

UNIVERSAL  
LIBRARY

**OU\_182825**

UNIVERSAL  
LIBRARY



# OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 809  
Q 97 S

Accession No. H 3777

Author गुप्त, गणपति-चंद्र.

Title साहित्य-तत्त्व. 1963

This book should be returned on or before the date last marked below.



‘साहित्य-विज्ञान’, ग्रन्थ-माला, द्वितीय खण्ड

# साहित्य के तत्त्व

—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र,  
मनोविज्ञान एवं विज्ञान के आधार पर साहित्य  
के तत्त्वों का वैज्ञानिक विवेचन—



डा० गणपति चन्द्र गुप्त  
प्राध्यापक—हिन्दी-विभाग,  
पंजाब-विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ ।



---

प्रकाशक : भारतेन्दु-भवन, चण्डीगढ़-३ ।  
वितरक : विश्वभारती-प्रकाशन, ११७८।२२ बी, चण्डीगढ़ (पंजाब) ।  
मुद्रक : आगरा फाइन-आर्ट प्रेस, राजा की मण्डी, आगरा ।  
प्रथम संस्करण : दिसम्बर १९६३-जनवरी '६४ ।  
मूल्य : पाँच रुपये ।

---

## दो शब्द

‘साहित्य-विज्ञान’ के तीन खंडों में क्रमशः साहित्य की आत्मा (शक्ति), साहित्य के तत्त्व (द्रव्य), और साहित्य के रूप (शैली) की विवेचना भारतीय साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आधार पर की गई है। प्रस्तुत पुस्तक उसी का एक खंड है। जो लोग पूरी पुस्तक एक साथ नहीं पढ़ना चाहते, उन्हीं के लिए ये खंड अलग-अलग प्रकाशित किये जा रहे हैं। अन्त में ‘साहित्य-विज्ञान’ का सारांश तथा आधारभूत विषयों—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र की संक्षिप्त रूप-रेखा भी पाठकों के उपयोग की दृष्टि से जोड़ दी गई है।

‘साहित्य-विज्ञान’ में साहित्य की आत्मा या शक्ति के रूप में एक नये सिद्धान्त—आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त—की स्थापना की गई है। हमारा विश्वास है कि इस सिद्धान्त के आधार पर साहित्य के विभिन्न पक्षों की व्याख्या अधिक स्पष्ट, नूतन एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अनुकूल रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। आशा है, पाठक-गण निष्पक्ष रूप से इस सिद्धान्त की परीक्षा करते हुए इसके गुण-दोषों से मुझे अवगत करायेंगे ताकि मैं भविष्य में अपेक्षित स्पष्टीकरण या संशोधन प्रस्तुत कर सकूँ।

हिन्दी विभाग,  
पंजाब-विश्वविद्यालय,  
चण्डीगढ़।

—गणपति चन्द्र गुप्त



# विषय-सूची

## द्वितीय खण्ड :

### साहित्य का द्रव्य या वस्तु-तत्त्व

१. साहित्य का द्रव्य या वस्तु-तत्त्व १०५—१०७
  - १.१. द्रव्य : सामान्य विवेचन
  - १.२. साहित्य के द्रव्य का वर्गीकरण
२. भाव तत्त्व : मनोवैज्ञानिक विवेचन १०८—११४
  - २.१. व्युत्पत्ति, परिभाषा, स्वरूप
  - २.२. भावों का वर्गीकरण
३. भावतत्त्व : सौन्दर्य-शास्त्रीय विवेचन ११५—१२३
  - ३.१. भावोद्दीप्तिवादी वर्ग
  - ३.२. भावावलम्बनवादी वर्ग
  - ३.३. भावानुभववादी वर्ग
  - ३.४. भावाभिव्यक्तिवादी वर्ग
  - ३.५. भाव-प्रेषणवादी वर्ग
  - ३.६. उपर्युक्त वर्गों का समन्वय
४. भाव तत्त्व : काव्य-शास्त्रीय विवेचन १२४—१३५
  - (क) भारतीय काव्य-शास्त्र
    - ४.१. रस-सिद्धान्त : सामान्य परिचय
    - ४.२. रसावयवों की व्याख्या—विभाव
    - ४.३. अनुभाव
    - ४.४. संचारी भाव और स्थायी भाव
    - ४.५. उपर्युक्त वर्गीकरण को पुष्टि
  - (ख) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र
    - ४.६. अरस्तू से रिचर्ड्स तक भाव-विवेचन की परम्परा
    - ४.७. निष्कर्ष
५. भाव-प्रधान साहित्य वर्गीकरण एवं विवेचन १३६—१५७
  - ५.१. भाव-प्रधान साहित्य : सीमा-निर्धारण

- ५.२. भाव-प्रधान साहित्य का वर्गीकरण
- ५.३. रस-वादी वर्गीकरण : एक समीक्षा
- ५.४. स्थायी भावों एवं रसों के संख्या-विस्तार की समस्या
- ५.५. मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
- ५.६. भावात्मक प्रवृत्तियों के भेदोपभेद  
(क) सहज प्रवृत्तियों के भेदोपभेद
- ५.७. आकर्षण-सिद्धान्त के आधार पर सहज प्रवृत्तियों का निर्धारण
- ५.८. भावात्मक प्रवृत्तियों का वर्गीकरण
- ५.९. रस-संख्या पर पुनर्विचार
- ५.१०. रस-संख्या-वृद्धि के अवशिष्ट प्रस्ताव
- ५.११. रस-संख्या-संकोच के प्रस्ताव
- ५.१२. आकर्षण-सिद्धान्त के अनुसार वर्गीकरण
- ५.१३. भाव-प्रधान साहित्य और आकर्षण शक्ति

६. विचार-तत्त्व : मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक व्याख्या

१५८—१६४

(क) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

- ६.१. 'विचार' : शब्दार्थ
- ६.२. विचार : परिभाषा और लक्षण
- ६.३. विचार के स्तर-भेद
- ६.४. प्रत्यय : स्वरूप एवं भेद
- ६.५. प्रत्यय-ज्ञान की उपलब्धि
- ६.६. विचार और भाव में अन्तर

(ख) दार्शनिक एवं तर्क-शास्त्रीय दृष्टिकोण

- ६.७. दर्शन और तर्क-शास्त्र का सम्बन्ध
- ६.८. तर्क-शास्त्र के दो पक्ष
- ६.९. आगमनात्मक पद्धति या सिद्धान्त-स्थापना की विधि
- ६.१०. निगमनात्मक पद्धति
- ६.११. दार्शनिक की विचार-पद्धति की विशेषता

७. विचार तत्त्व : साहित्यिक दृष्टिकोण से विवेचन

१६५—१७४

- ७.१. साहित्य और विचार का सम्बन्ध
- ७.२. साहित्य में प्रस्तुत विचारों का विषय-क्षेत्र
- ७.३. साहित्य में विचारों का प्रस्तुतीकरण
- ७.४. विचार-प्रधान साहित्य

७.५. विचार-प्रधान साहित्य और परम्परागत साहित्य-शास्त्र

७.६. विचार-प्रधान साहित्य और आकर्षण शक्ति

८. कल्पना तत्त्व : मनोवैज्ञानिक विवेचन

१७५—१८४

- ८.१. 'कल्पना': शब्दार्थ
- ८.२. अर्थों का विश्लेषण
- ८.३. कल्पना सम्बन्धी अर्थों का वर्गीकरण
- ८.४. कल्पना : परिभाषा
- ८.५. कल्पना के प्रमुख लक्षण
- ८.६. कल्पना और बिम्ब-विधान
- ८.७. कल्पना और स्मृति
- ८.८. कल्पना और विचार (चिन्तन-शक्ति)
- ८.९. कल्पना के स्तर-भेद
- ८.१०. कल्पना के भेदोपभेद
- ८.११. साहित्यिक कल्पना

९. कल्पना-तत्त्व : साहित्यिक दृष्टि से विवेचन

१८५—१९४

- ९.१. साहित्य शास्त्र में कल्पना की प्रतिष्ठा
- ९.२. कल्पना : स्वरूप-मीमांसा
- ९.३. कल्पना के अन्य लक्षण
- ९.४. कल्पना और मन-तरंग (Fancy)
- ९.५. साहित्य-सर्जना में कल्पना का योगदान
  - (क) द्रव्य का चेतन-स्तर पर प्रस्तुतीकरण
  - (ख) द्रव्य का विस्तार
  - (ग) नये द्रव्य का आविर्भाव
  - (घ) द्रव्य को अनुभूति-गम्य बनाना
  - (ङ) देश-काल एवं व्यक्ति के सम्बन्धों से मुक्ति
- ९.६. कल्पना-प्रधान साहित्य
- ९.७. कल्पना-प्रधान साहित्य की तीन प्रवृत्तियाँ
- ९.८. कल्पना-प्रधान साहित्य और आकर्षण-शक्ति



# साहित्य-विज्ञान

द्वितीय खंड

साहित्य का द्रव्य या वस्तु-तत्त्व

( साहित्य के तत्त्व )

---

## साहित्य का द्रव्य या वस्तु-तत्त्व—

- १. द्रव्य का सामान्य विवेचन
  - २. भाव-तत्त्व : मनोवैज्ञानिक विवेचन
  - ३. भाव-तत्त्व : सौन्दर्य-शास्त्रीय विवेचन
  - ४. भाव-तत्त्व : काव्य-शास्त्रीय विवेचन
  - ५. भाव-प्रधान साहित्य : वर्गीकरण एवं विवेचन
  - ६. विचार तत्त्व : मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक व्याख्या
  - ७. विचार-तत्त्व : साहित्यिक दृष्टिकोण से विवेचन
  - ८. कल्पना-तत्त्व : मनोवैज्ञानिक विवेचन
  - ९. कल्पना-तत्त्व : साहित्यिक दृष्टि से विवेचन
-

# साहित्य का द्रव्य

या

वस्तु-तत्त्व



## १.१. द्रव्य : सामान्य विवेचन—

‘द्रव्य’ शब्द के वैसे तो अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु हम उसे यहाँ ‘उपादान सामग्री’ के अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं जो कि अंग्रेजी के ‘मैटर’ (Matter) का सामानार्थक है। शब्द-कोष के अनुसार ‘मैटर’ के भी कई अर्थ होते हैं, जैसे— (१) वह स्थूल पदार्थ जिसे ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण किया जा सके। (२) जिससे किसी वस्तु का निर्माण किया जाता है। (३) जो किसी निश्चित रूप को प्राप्त कर लेने पर किसी पदार्थ विशेष में परिणत हो जाता है। इनमें से पहला अर्थ तो स्थूल पदार्थों के ही प्रसंग में अधिक उपयुक्त रहता है, साहित्य जैसे सूक्ष्म विषय के प्रसंग में उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। साहित्य की शक्ति मानसिक स्तर पर कार्य करती है, अतः उसमें मानसिक द्रव्य का ही उपयोग होता है, जिसे हम स्थूल रूप में नहीं देख पाते। अतः साहित्य के प्रसंग में द्रव्य के शेष दो अर्थ ही ग्राह्य हैं— इन दोनों अर्थों का समन्वय करते हुए यहाँ हम उस उपादान सामग्री का विवेचन करेंगे जिससे साहित्य का निर्माण होता है या जिसका रूपान्तरित एवं व्यवस्थित रूप साहित्य है।

विज्ञान के अनुसार द्रव्य और शक्ति में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। द्रव्य के प्रत्येक अंश में शक्ति व्याप्त होती है किन्तु वह प्रायः सुषुप्त अवस्था में रहती है। इस सुषुप्त का कारण द्रव्य के विभिन्न तत्त्वों में पारस्परिक संतुलन का होना होता है। जब द्रव्य को ऐसा रूप दे दिया जाता है कि जिससे उसका संतुलन भंग हो जाता है, तो उसमें निहित शक्ति उद्दीप्त एवं जाग्रत होकर बाहर व्यक्त होने लगती है। अस्तु, इस प्रकार से द्रव्य की शक्ति को उद्दीप्त करके वैज्ञानिक उससे

विभिन्न कार्य संपादित करते हैं। साहित्यकार भी मानसिक क्षेत्र से सम्बन्धित द्रव्य—भाव, विचार, कल्पना, भाषा आदि—को एक ऐसा रूप प्रदान करता है कि जिससे उसमें निहित शक्ति उद्दीप्त होकर बाहर व्यक्त होने लगती है। इसी परिवर्तित रूप को हम 'साहित्य' कहते हैं। साहित्य की इस शक्ति का विवेचन पीछे किया जा चुका है, तथा उसके रूप-परिवर्तन का विश्लेषण अगले खंड में किया जायगा। यहाँ हम उसके द्रव्य की विवेचना करते हैं।

## १.२. साहित्य के द्रव्य का वर्गीकरण—

जैसा कि श्री ग्रीनी<sup>१</sup> महोदय ने अपने कला सम्बन्धी विवेचन में स्पष्ट किया है, साहित्य और विभिन्न कलाओं के द्रव्य को भी स्थूल रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) विषय (Content) (२) माध्यम या रूप (Form)। विषय का सम्बन्ध यदि वस्तु के आन्तरिक तत्त्वों से होता है तो माध्यम का सम्बन्ध उसके ऊपरी पक्ष या रूप से होता है। साहित्य में साहित्यकार का कथ्य यदि उसका विषय है तो उसकी कथन-विधि या कथन-शैली उसका माध्यम या रूप है। साहित्यकार का विषय प्रायः सामान्य ही होता है, किन्तु वह अपनी अभिव्यंजना-शैली के वैशिष्ट्य के द्वारा उसे नया रूप प्रदान करता है। साहित्य के इस माध्यम या रूप का विश्लेषण आगे अलग खंड में किया जायगा, यहाँ उसकी विषय-वस्तु का ही विवेचन किया जाता है।

पीछे इसका उल्लेख किया जा चुका है कि साहित्य का द्रव्य मानसिक क्षेत्र का होता है। बाह्य जगत के संपर्क एवं प्रभाव से मनुष्य का मस्तिष्क जो कुछ ग्रहण कर पाता है—वही साहित्य का विषय बन सकता है। भौतिक जगत में बहुत कुछ ऐसा हो सकता है कि जिसे अभी तक मानव-मस्तिष्क ग्रहण न कर पाया हो—या किसी रूप में उस तक न पहुँच पाया हो। ऐसी स्थिति में उसे साहित्य में भी स्थान नहीं मिल सकेगा। अस्तु, इसे हम साहित्य की विषय-वस्तु की स्थूल सीमा मान सकते हैं।

मनोविज्ञान के अनुसार समस्त मानसिक क्रिया-व्यापारों को सामान्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है—(१) ज्ञान (Cognition) (२) अनुभूति (Feeling) और (३) चेष्टा (Conation)। यद्यपि इन तीनों व्यापारों में भी परस्पर गहरा सम्बन्ध है तथा इनके पारस्परिक सहयोग एवं समन्वय से ही विभिन्न प्रकार के मानसिक तत्त्वों की सृष्टि होती है, किन्तु फिर भी उनमें प्रमुखता ज्ञान, अनुभूति या चेष्टा में से किसी एक व्यापार की ही होती है। अतः इस आधार पर साहित्य से सम्बन्धित सभी मानसिक तत्त्वों को भी क्रमशः विचार, भाव एवं कल्पना का नाम

दिया जा सकता है। जिस प्रकार ज्ञान सम्बन्धी प्रवृत्तियों का तात्त्विक रूप विचार है, वैसे ही अनुभूतियों का तात्त्विक रूप भाव है। चेष्टाओं के अनेक रूप हैं—जैसे, इच्छा, संकल्प, क्रिया आदि ; किन्तु साहित्य में क्रिया के सूक्ष्मतम रूप कल्पना का ही प्राचुर्य होता है ; अतः हम चेष्टा का प्रतिनिधित्व कल्पना में मान सकते हैं। पूर्ववर्ती विद्वानों ने भी विचार, भाव एवं कल्पना की चर्चा साहित्य के तत्त्वों के रूप में की है। इनमें साहित्य की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व 'भाव' माना गया है—अतः इसे हम प्राथमिकता देते हुए इन तत्त्वों की व्याख्या एवं विवेचना आगे विभिन्न शास्त्रों एवं सिद्धान्तों के आधार पर करने का प्रयास करेंगे।



## २

### भाव-तत्त्व :

#### मनोवैज्ञानिक विवेचन



#### २.१. व्युत्पत्ति, परिभाषा, स्वरूप—

भाव तत्त्व के मनोवैज्ञानिक विवेचन के लिए हम उसके अँगरेजी पर्याय 'इमोशन' (Emotion) पर विचार कर सकते हैं। श्री पी० टी० युंग महोदय के अनुसार 'इमोशन' की व्युत्पत्ति लैटिन के 'ई+मूवर' (e+movere) से हुई है ; लैटिन के 'ई' का अर्थ है—'बाहर' और 'मूवर' का अर्थ है—'गतिशील होना' ; इस प्रकार 'इमोशन' का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है—'बाहर निकलना' या 'निष्कासित होना'।<sup>१</sup> डा० भगवानदास ने इस शब्द के अर्थ का विश्लेषण करते हुए इसे 'मोशन या गति का ही परिवर्तित रूप' माना है।<sup>२</sup> वस्तुतः 'इमोशन' का सम्बन्ध मानसिक गति, उत्तेजना या चंचलता से है। जब हमारे मन में किसी कारण उद्दीप्ति होती है तो व्यापक अर्थ में इसे 'इमोशन' कह सकते हैं। श्री मैक्डूगल महोदय के अनुसार 'इमोशन' या भाव का प्रयोग सामान्यतः एक ओर विशेष प्रकार की भावात्मक अनुभूतियों के लिए होता है तो दूसरी ओर व्यापक अर्थ में भाव से सम्बन्धित सभी प्रकार के मानसिक एवं शारीरिक क्रिया-व्यापारों को इसके अन्तर्गत स्थान दिया जाता है।<sup>३</sup>

संकीर्ण अर्थ में 'इमोशन' या 'भाव' के मुख्यतः तीन प्रमुख लक्षण माने जाते हैं—(१) भाव व्यक्ति की उत्तेजित अवस्था है। (२) भाव में व्यक्ति के स्नायु-संस्थानों की एकाएक गति-वृद्धि के कारण स्नायविक परिवर्तन होते हैं। (३) भाव

1. Emotion in man and animal : P. T. young 1947, Page 25.
2. The science of Emotions : By Dr. Bhagwandass 1953, Page 80.
3. An out-line of psychology : William McDougall 1949, Page 316-317.

किसी विशेष मनोवैज्ञानिक परिस्थिति में उद्दीप्त होता है। इन तीनों लक्षणों के आधार पर श्री युंग महोदय ने भाव की परिभाषा की है—“भाव व्यक्ति की अनुभूति, चेष्टाओं एवं पैशिक गतियों से सम्बन्धित वह अव्यवस्थित (या उद्दीप्त) अवस्था है जो कि विशेष मनोवैज्ञानिक परिस्थिति में उत्पन्न होती है।”<sup>४</sup> अन्य कतिपय विद्वानों ने भी उपर्युक्त लक्षणों को स्वीकार किया है, अतः हम इस परिभाषा को सामान्यतः स्वीकार्य मान सकते हैं।

व्यापक अर्थ में भाव के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की ऐसी अनुभूतियों एवं मानसिक दशाओं का समावेश किया जाता है जिनमें भाव का अस्तित्व किसी न किसी मात्रा में होता है। इन्हें सूक्ष्म दृष्टि से अनेक भेदों में विभक्त किया जाता है—जैसे ; अनुभूति (Feeling), संवेग या भाव (Emotion), मनःस्थिति (Mood) भावना (Sentiment), स्वभाव (Temperament), भावात्मक दृष्टिकोण (Attitude) आदि। प्रारंभ में इनका अर्थ-क्षेत्र निश्चित नहीं था, अतः एक के स्थान पर दूसरे के नाम का प्रयोग प्रायः हो जाता था, किन्तु अब इनके भेद एवं अर्थ-क्षेत्र स्पष्ट रूप में निश्चित हो गये हैं। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है<sup>५</sup>—

(क) अनुभूति (Feeling)—ऐन्द्रिक संवेदनाओं के कारण मन पर जो प्रतिक्रिया होती है, उन्हें अनुभूति कहा जाता है। अनुभूति और भाव में यह अन्तर है कि जहाँ अनुभूति का सम्बन्ध इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होने वाले अनुभव से है वहाँ भावों का सम्बन्ध किसी प्रकार की सूचना के बोध, स्मृति या कल्पना से होता है। उदाहरण के लिए सुई चुभने पर जो पीड़ा होती है, वह अनुभूति है, जबकि कोई अशुभ समाचार मिलने से होने वाला दुःख भाव कहा जायगा। अनुभूति और भाव में इस सूक्ष्म भेद के होते हुए भी दोनों में परस्पर गहरा सम्बन्ध है—अनुभूति सघन एवं विस्तृत होने पर भाव को जन्म दे सकती है तो भाव की उद्दीप्ति के कारण किसी न किसी प्रकार की अनुभूति भी होती है। उदाहरण के लिए—सुई चुभने पर पीड़ा की अनुभूति होती है किन्तु जब कोई और व्यक्ति सुई चुभा रहा हो तो उसका ज्ञान होने पर हमारी अनुभूति क्रोध या भय के भावों में परिणत हो जाती है ; साथ ही क्रोध और भय के कारण भी हम सुख या दुःख की अनुभूति प्राप्त करते हैं। अस्तु, अनुभूति और भाव में परस्पर सूक्ष्म अन्तर के होते हुए भी वे एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में संबद्ध हैं।

(ख) भाव (Emotion)—इसका विवेचन पीछे किया जा चुका है।

(ग) मनोदशा (Mood)—जिस प्रकार अनुभूति का सघन एवं विस्तृत रूप

4. Emotion in man and animal, Page 51.

५. मनोविज्ञान : डा० यदुनाथ सिहा १९६० (हिन्दी संस्करण), पृ० २३०-२३२।

भाव में परिणत हो जाता है, वैसे ही भाव का व्यापक और अधिक स्थिर रूप 'मूड' या मनःस्थिति है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार—“मनोदशा भाव का स्थिर रहने वाला पश्चात् प्रभाव है। भाव मनोदशा के रूप में स्थिर रहता है—वह एक सजातीय मनोदशा को अपने पीछे छोड़ जाता है। भाव मनोदशा का कारण है। मनोदशा भाव की अपेक्षा कम तीव्र होती है, किन्तु उसका स्थितिकाल अधिक दीर्घ होता है।”<sup>६</sup> इस प्रकार भाव मनोदशा का कारण है तो दूसरी ओर ‘मनोदशा’ भी भावोद्दीपन का कारण बन सकती है। उदाहरणार्थ चिड़चिड़ाहट की मनोदशा में साधारण सी बात पर भी क्रोधित हो जाने की संभावना रहती है। वस्तुतः मनोदशा की प्रवृत्ति स्थिर रहने और भाव में परिणत हो जाने की रहती है—अतः मनोदशा और भाव में परस्पर गहरा सम्बन्ध सिद्ध होता है।

(घ) भावना (Sentiment)—भावना की परिभाषा विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न शब्दों में की है। श्री शैण्ड महोदय के विचार से ‘भावना किसी वस्तु पर केन्द्रित भावात्मक प्रवृत्तियों की एक सुव्यवस्थित समष्टि है।’ श्री मैकडूगल महोदय ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है—“भावना किसी आलम्बन के संपर्क से उत्पन्न उसके प्रति एक स्थायी चेष्टात्मक अभिवृत्ति है।”<sup>७</sup> या “भावना एक अर्जित प्रवृत्ति है जिसका निर्माण धीरे-धीरे कई अनुभवों और क्रियाओं से होता है।”<sup>८</sup> वस्तुतः भावना का निर्माण, पोषण, या विकास धीरे-धीरे विभिन्न अनुभवों के आधार पर होता है। एक व्यक्ति हमें एक बार हानि पहुँचाता है तो इससे क्रोध उत्पन्न होगा, किन्तु जब हमें वह बार-बार हानि पहुँचावेगा तो यही क्रोध वैर-भावना में परिणत हो जायगा। इस प्रकार भावों की अनेक आवृत्तियों में भावनाओं का विकास होता है तो दूसरी ओर भावनाएँ भी भावों के रूप में व्यक्त होती हैं। इतना ही नहीं—वे हमारे मूल भावों के रूप को भी परिवर्तित कर देती हैं। एक ही व्यक्ति के एक ही जैसे व्यवहार से ही हम अपनी ईर्ष्या, मैत्री, प्रेम, द्वेष आदि भावनाओं के कारण विभिन्न प्रकार के भावों की अनुभूति प्राप्त करेंगे। गोस्वामी तुलसीदासजी का यह कथन है कि ‘जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी’ वाली बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी बिल्कुल ठीक है। अस्तु, भाव यदि भावनाओं के रूप में संघटित होते हैं तो भावनाएँ भावों के रूप में व्यक्त होती हैं—अतः दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

(ङ) भावात्मक दृष्टिकोण (Attitude)<sup>९</sup>—जब कोई विचार, सिद्धान्त या किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में हमारी धारणा पुष्ट एवं विकसित भावना के रूप में

६. मनोविज्ञान : डा० यदुनाथ सिंह १९६० (हिन्दी संस्करण), पृ० २५०।

७. An outline of psychology : W. McDougall 1949, Page 418.

८. वही।

९. Emotion in Man and animal : P. T. young, Page 65-66.

परिणत हो जाती है तो उसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'दृष्टिकोण' या 'भावात्मक दृष्टिकोण' कहते हैं। उदाहरण के लिए हमारा ईश्वर की सत्ता में गहरा विश्वास या साम्यवाद में दृढ़ आस्था या प्रजातंत्रीय भावनाओं से अनुप्राणित होना ; आदि—हमारे विभिन्न दृष्टिकोणों के सूचक हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इन्हे 'भावनाओं' (Sentiments) से अभिन्न माना है। वस्तुतः बौद्धिक विषयों से सम्बन्धित भावनाएँ ही दृष्टिकोण कही जाती हैं।

(च) स्वभाव (Temperament)<sup>१०</sup>—जब विभिन्न भावनाएँ हमारे चरित्र की स्थायी अंग बन जाती हैं तो इन्हें ही मनोवृत्ति या स्वभाव कहा जाता है। अतः मनोवृत्ति, स्वभाव एवं चरित्र को भावनाओं का ही अधिक स्थिर, एवं संघटित रूप माना जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुभूति, भाव, मनोदशा, भावना, दृष्टिकोण, स्वभाव आदि भाव के ही उत्तरोत्तर अधिक स्थिर एवं व्यवस्थित रूप हैं। इनमें से प्रत्येक रूप व्यक्त होने पर भाव में परिणत हो सकता है। जो रूप जितना अधिक स्थिर होगा वह उतने ही अधिक भावों को उत्पन्न कर सकता है। इस दृष्टि से इनका भाव-क्षेत्र उत्तरोत्तर अधिक व्यापक माना जा सकता है। वस्तुतः उपर्युक्त सब भेद भाव की मात्रा, गंभीरता, व्यापकता एवं स्थिरता के परिमाण-भेद पर आधारित हैं। अतः व्यापक रूप में इन सबको भाव कहना अनुचित नहीं है।

## २.२. भावों का वर्गीकरण—

ऊपर हमने भावों की दीर्घता, गंभीरता एवं व्यापकता पर आधारित भेदों का विवेचन किया है, जो सामान्यतः भावों के परिमाण (Quantity) को सूचित करते हैं, उनके गुणों (Quality) को नहीं। यहाँ भावों का वर्गीकरण गुण-भेद की दृष्टि से किया जाता है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में भावों के वर्गीकरण का प्रयास अनेक विद्वानों ने किया है किन्तु अभी तक कोई एक वर्गीकरण सर्व-मान्य नहीं हो पाया है। प्रारंभ में सत्रहवीं शती के प्रसिद्ध आचार्य डेकार्टे (Descartes) ने भावों के दो मुख्य वर्ग—(१) मूल भाव और (२) परतंत्र भाव—मानते हुए मूल भावों के भी ६ उपभेद किये—(१) आश्चर्य (२) प्रेम (३) घृणा (४) इच्छा (५) आनन्द और (६) शोक। परतंत्र भावों की संख्या उन्होंने अनिश्चित मानी, जिनमें कुछ उल्लेखनीय भाव ये हैं—श्रद्धा, उपेक्षा, उदारता, अभिमान, आशा, भय ईर्ष्या आदि।<sup>११</sup>

अठारहवीं शती के दार्शनिक बर्क (Burke) ने भावों के दो प्रमुख वर्ग माने<sup>१२</sup>

10. An outline of psychology : Mcdougall, Page 417.

11. Western Aesthetics : By Dr. K. C. Pande.

१२. वही, पृ० ।

(१) आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति से सम्बन्धित भाव (२) सामाजिक भाव । प्रथम वर्ग में उन्होंने भय और आश्चर्य को स्थान दिया जब कि दूसरे वर्ग में जिज्ञासा, सहानुभूति, अनुकरण की प्रवृत्ति, महत्त्वाकांक्षा, शोक और प्रेम का उल्लेख किया । उन्होंने शेष भावों का विकास इन्हीं के आधार पर सिद्ध किया । बर्क महोदय के अनन्तर जार्गेन्सन, वाटसन, जेम्स, शैण्ड, मेकडूगल प्रभृति मनो वैज्ञानिकों ने भी इस क्षेत्र में नये प्रयास किये । जार्गेन्सन<sup>१३</sup> महोदय ने ६ आधारभूत भाव स्वीकार किये—भय, प्रसन्नता, दुःख, इच्छा, क्रोध और लज्जा ; तो दूसरी ओर श्री वाटसन<sup>१४</sup> ने केवल तीन ही भावों—भय, क्रोध, और \*प्रेम—को मूल भावों के रूप में स्वीकार किया । इसी प्रकार जेम्स<sup>१५</sup> महोदय ने सभी भावों को दो कोटियों में रखने का प्रयास किया—(१) स्थूल भाव, जैसे—दुःख, भय, क्रोध, प्रेम आदि तथा (२) सूक्ष्म भाव, जैसे नैतिक, बौद्धिक एवं कलात्मक अनुभूतियाँ । शैण्ड<sup>१६</sup> महोदय ने भावना (Senti-ment) और भाव (Emotion) का अन्तर स्पष्ट करते हुए, भाव के सात उपभेद बताये—भय, क्रोध, प्रसन्नता, दुःख, आश्चर्य, घृणा और क्षोभ । श्री शैण्ड महोदय के वर्गीकरण को ही आगे बढ़ते हुए श्री मेकडूगल महोदय ने एक ओर तो भावना और भाव के अन्तर को स्वीकार किया तो दूसरी ओर भावों के भी तीन वर्ग निश्चित किये<sup>१७</sup>—(१) मौलिक भाव (Primary Emotions) जैसे, भय, क्रोध आदि । (२) मिश्रित भाव (Compound emotion)—जो विभिन्न मौलिक भावों से मिश्रित होकर निर्मित होते हैं ; जैसे—करुणा (स्नेह + सहानुभूति), उपेक्षा (क्रोध + अर्च) आदि (३) व्युत्पन्न भाव (Derived Emotion), जो किसी मूल प्रवृत्ति या चेष्टा से सम्बन्धित होते हैं, जैसे—आशा, चिन्ता, पश्चाताप आदि । इस प्रकार डेकार्टे से लेकर मेकडूगल तक विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से भावों का वर्गीकरण किया किन्तु जैसा कि श्री युंग महादेय ने स्वीकार किया है, अभी तक कोई भी वर्गीकरण ऐसा नहीं है जिसे सर्वमान्य कहा जा सके ।

इधर डा० भगवानदास ने भी भावों का नये ढंग से वर्गीकरण करने का प्रयास किया है ।<sup>१८</sup> उन्होंने सभी भावों को मूलतः आकर्षण-विकर्षण से ही विकसित मानते हुए उनके परिस्थिति-भेद से छः रूप माने हैं । समान व्यक्ति के प्रति आकर्षण प्रेम है, बड़े के प्रति श्रद्धा और अपने से छोटे के प्रति आकर्षण स्नेह है । इसी प्रकार समान व्यक्ति के प्रति विकर्षण से क्रोध, बड़े के प्रति विकर्षण से भय और छोटे के प्रति विकर्षण से घृणा उत्पन्न होती है । डा० भगवानदास के वर्गीकरण को तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

13. Emotions in man and animal, Page 26.

१४—१६. वही ।

17. An outline of psychology : Mcdougall, Page 325.

18. The science of Emotions, Page 84-93.

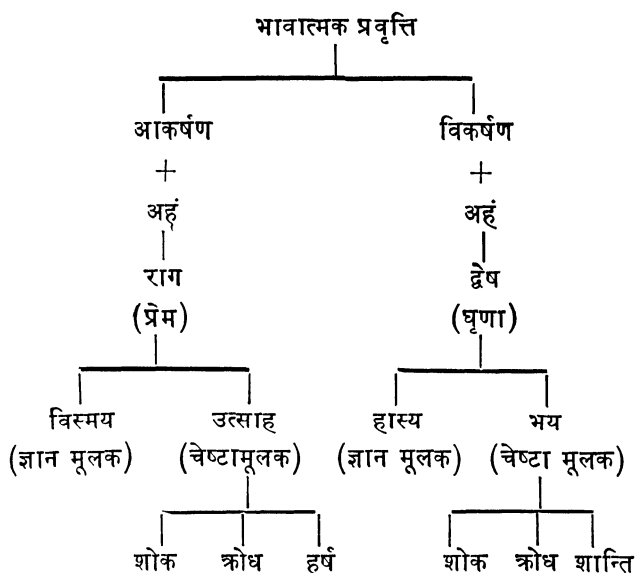
|                  |   | आकर्षण  | विकर्षण |
|------------------|---|---------|---------|
| १. समान के प्रति | → | प्रेम   | क्रोध   |
| २. बड़े के प्रति | → | श्रद्धा | भय      |
| ३. छोटे के प्रति | → | स्नेह   | घृणा    |

डा० भगवानदास ने यह प्रमाणित किया है कि हमारी अन्य सभी मानसिक दशाएँ एवं भाव इन्हीं ६ वर्गों से सम्बन्धित हैं। उन्होंने प्रमाणस्वरूप एक विस्तृत तालिका भी प्रस्तुत की है, जिसमें दिखाया गया है कि किस प्रकार जेप सभी भाव इन्हीं ६ वर्गों में समन्वित हो जाते हैं। हमारे विचार से यदि डा० भगवानदास के उपर्युक्त वर्गीकरण को थोड़ा और अधिक व्यापक रूप प्रदान किया जाय तो यह पूर्वोक्त सभी प्रयासों से अधिक सफल सिद्ध हो सकता है। डा० भगवानदास ने केवल आलम्बन की ही समानता, महत्ता या लघुता के आधार पर ही आकर्षण-विकर्षण के विभिन्न भेद किये हैं जबकि विभिन्न परिस्थितियों एवं विभिन्न वृत्तियों के समन्वय से भी आकर्षण-विकर्षण का विकास विभिन्न भाव-दशाओं के रूप में हो जाता है। अतः केवल आलम्बन की लघुता या महत्ता के आधार पर ही नहीं व्यक्ति की परिस्थितियों एवं वृत्तियों के आधार पर भी इनका वर्गीकरण होना चाहिए। सामान्यतः हमारे प्रत्येक भाव में ज्ञान, अनुभूति एवं चेष्टा का अंश समन्वित होता है किन्तु परिस्थिति-भेद से इनमें से कोई एक पक्ष अधिक प्रबल हो जाता है। इस आधार पर आकर्षण और विकर्षण के भी तीन-तीन भेद हो जाते हैं—

|                   |   | आकर्षण  | विकर्षण |
|-------------------|---|---------|---------|
| १. ज्ञान प्रधान   | → | आश्चर्य | हास्य   |
| २. अनुभूति प्रधान | → | प्रेम   | घृणा    |
| ३. चेष्टा प्रधान  | → | उत्साह  | भय      |

उपर्युक्त तालिका के अनुसार जहाँ आश्चर्य और हास्य ज्ञान मूलक भाव हैं— अर्थात् इनमें व्यक्ति का बौद्धिक पक्ष प्रबल होता है तथा वह निष्क्रिय रहता है—वहाँ उत्साह और भय चेष्टा मूलक भाव हैं। प्रिय वस्तु को पाने के लिए एवं अप्रिय से दूर रहने के लिए उत्साह एवं भय का उद्बोधन होता है। आगे चलकर हमारी चेष्टा की असफलता, बाधा एवं सफलता के आधार पर तीन भाव और उत्पन्न होते हैं—शोक, क्रोध, हर्ष (शान्ति)। इस प्रकार तालिका रूप में यह वर्गीकरण प्रत्येक प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

## भागों का वर्गीकरण



इस प्रकार आकर्षण-विकर्षण से मूलतः नौ भावों की सृष्टि मानी जा सकती है। आलम्बन एवं परिस्थिति भेद से इनके भी असंख्य भेदोपभेद हो जाते हैं, जिनकी चर्चा अन्यत्र की जायगी।



## भाव-तत्त्व : सौन्दर्य-शास्त्रीय विवेचन



पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र (Aesthetics) के क्षेत्र में कलाओं की दृष्टि से भाव का विस्तृत विवेचन हुआ है। यद्यपि इस क्षेत्र के विभिन्न विद्वानों में विभिन्न प्रश्नों के सम्बन्ध में परस्पर गहरा मत-भेद विद्यमान है, फिर भी अधिकांश विद्वानों ने भावों को कला एवं साहित्य के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के रूप में मान्यता प्रदान की है। इनके भाव सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करने के लिए हम इन्हें स्थूल रूप से पाँच वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) भावोद्दीप्तिवादी, (२) भावावलम्बनवादी, (३) भावानुभववादी, (४) भावाभिव्यक्तिवादी और (५) भाव-प्रेषणवादी। इनका संक्षिप्त परिचय क्रमशः दिया जाता है।

### ३.१. भावोद्दीप्तिवादी वर्ग—

इस वर्ग में मुख्यतः डेकार्टेज्, एडिसन, ह्यूम आदि विचारक आते हैं। इन्होंने भावों और कला में परस्पर उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध स्वीकार करते हुए भावोद्दीप्ति को कला का लक्ष्य या उसकी सफलता का प्रमाण माना। डेकार्टेज महोदय ने भावों के उद्गम-स्रोत एवं उनके विभिन्न अवयवों का विस्तृत विवेचन करते हुए कला-आस्वादन का आधार भावोद्दीप्ति में ही सिद्ध किया।<sup>१</sup> यद्यपि उन्होंने सौन्दर्यानुभूति या कलानुभूति को लौकिक अनुभूति से पृथक् करने के लिए उसे बौद्धिक आनन्द की संज्ञा दी किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि प्रत्येक प्रकार की सौन्दर्यानुभूति कला-आस्वादन से उद्भावित भावों से समन्वित होती है।<sup>२</sup> एडिसन महोदय ने कला-जन्य भावों की विवेचना करते हुए प्रतिपादित किया कि कोई कृति हमारे

1. Western Aesthetics : K. C. Pande, Page 204-210.

२. वही।

भावों को उद्दीप्त करने में जितनी अधिक समर्थ एवं सफल सिद्ध होगी उतनी ही वह हमें अधिक प्रसन्नता प्रदान कर सकेगी।<sup>3</sup> जो भाव सामान्य जीवन में प्रसन्नता दायक होते हैं, वे तो कला के माध्यम से प्रस्तुत होने पर प्रसन्नता प्रदान करते ही हैं किन्तु कला का जादू तो यह है कि दैनिक जीवन के कटु भाव भी कलाओं के माध्यम से मधुर बन जाते हैं। इस प्रकार उन्होंने कलाजन्य आनन्द का स्रोतभावोद्दीप्ति को मानते हुए उमे कलाओं का चरम लक्ष्य स्वीकार किया है।<sup>4</sup> आगे चल कर ह्यूम महोदय ने भी इसी विचार का समर्थन किया।<sup>5</sup> उन्होंने स्पष्ट रूप में घोषणा की कि कलाओं के आस्वादन का मूलधार उनके द्वारा उद्बलित अनुकूल भावों में ही है। यह आस्वादन विशुद्ध भावात्मक होता है, तर्क और बुद्धि उसके लिए अपेक्षित नहीं। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि कलाजन्य भाव वैयक्तिक नहीं होते—वे स्वार्थ से मुक्त होते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने सहानुभूति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ डेकार्टेज ने कलास्वादन में भावों के साथ-साथ बौद्धिकता एवं कल्पना का भी महत्त्व स्वीकार किया था, वहाँ एडिसन एवं ह्यूम ने क्रमशः भावों को अधिकाधिक महत्त्वप्रदान करते हुए अन्यतत्त्वों को गौण सिद्ध कर दिया। किन्तु यहाँ एक बात स्पष्ट है कि इन विद्वानों ने भाव को कला का परिणाम या लक्ष्य ही माना—स्वयं कला में भी भाव को स्थान दिया जाय या नहीं—और यदि दिया जाय तो किस तरह दिया जाय, इसकी विवेचना इन्होंने सम्यक् रूप में नहीं की। यह कार्य भावावलम्बनवादी विचारकों द्वारा संपन्न हुआ।

### ३.२. भावावलम्बनवादी वर्ग—

इस वाद के अन्तर्गत हम मुख्यतः ल-बस्सु (Le Bossu), हक्सन (Hutcheson), बर्क (Burke), हरमन लात्ज (Herman Lotze), जार्ज सैंतायन (George Santayana) प्रभृति विद्वानों को रख सकते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस वर्ग के विद्वानों ने कला से भाव की उद्दीप्ति को ही आवश्यक नहीं माना अपितु स्वयं कला में भी भावों के आलम्बन रूप में चित्रण को अनिवार्य माना। जर्मन विद्वान लबस्सु ने काव्य-कला की दृष्टि से भावावलम्बन सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए बताया कि प्रत्येक महान् काव्य के लिए भावनाओं का चित्रण आवश्यक है।<sup>6</sup> किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि सभी प्रकार की कविताओं के लिए सभी प्रकार के भाव उपयुक्त नहीं हैं। उनके विचार से महाकाव्य का जैसा नायक हो उसी के

3. The same. Pages 242-258.

4. वही।

5. वही।

6. A history of esthetics By K. E. Gilbert Pages, 500-515.

अनुसार भावों का चित्रण होना चाहिए ।<sup>७</sup> इसके अतिरिक्त भावों का चित्रण इस ढंग से होना चाहिए कि जिससे कि वे एक तो पाठक की स्वीकृति पा सकें (उसे उचित प्रतीत हों) और दूसरे वे अनुभूतिगम्य हों । आगे चलकर हक्सन महोदय ने काव्यगत भावों का मूलाधार 'अन्तर्भावना' (Inner Sense) में सिद्ध किया ।<sup>८</sup> उनके विचार से यह अन्तर्भावना ही कवि, काव्य और पाठक में विभिन्न रूप धारण करती है । कवि की अन्तर्भावना को 'प्रतिभा', काव्य में प्रस्तुत अन्तर्भावना को 'भावना' (Sentiment) एवं पाठक की अन्तर्भावना को 'रुचि' कहा जा सकता है । बर्क महोदय ने कलाजन्य अनुभूति को सौन्दर्यानुभूति या भावानुभूति के रूप में स्वीकार करते हुए भावानुभूतियों का विवेचन नये ढंग से किया ।<sup>९</sup> उन्होंने एक ओर तो अनुभूति और भाव का अन्तर स्पष्ट किया तो दूसरी ओर भावों की वैयक्तिकता एवं सामाजिकता के आधार पर उनका नया वर्गीकरण किया । सामाजिक भावों के अन्तर्गत उन्होंने मुख्यतः इन छः भावों को स्थान दिया—जिज्ञासा, सहानुभूति, अनुकरण की प्रवृत्ति, महत्वाकांक्षा, शोक और प्रेम ।<sup>१०</sup> कलागत भावों की प्रेषणीयता का मूल आधार मुख्यतः सहानुभूति की प्रवृत्ति ही है । उनके विचार से काव्य में शब्दों के माध्यम से भाव प्रस्तुत किये जाते हैं, जो मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं<sup>११</sup>—(१) पूर्णवाची शब्द,—जैसे, घोड़ा, मनुष्य, आदि । (२) सरल भाववाचक शब्द—जैसे, लाल, गोल आदि । (३) मिश्रित भाववाचक शब्द—जैसे—प्रेम, गुण, भय, आदि । बर्क के विचार से इनमें से तीसरे वर्ग के शब्द काव्य के अधिक उपयुक्त हैं क्योंकि उनसे पाठक को भावों की अनुभूति सहज ही हो जाती है । अस्तु, बर्क ने काव्य में भाषा के माध्यम से भावों के प्रस्तुतीकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया ।<sup>१२</sup>

हरमन लाज ने कलागत सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए घोषित किया कि वास्तविक सौन्दर्य आत्मा को आनन्द प्रदान करने वाले भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।<sup>१३</sup> कलाओं से होने वाली रसानुभूति का मूलाधार भाव ही है । यह भाव तत्त्व न केवल कलाओं के आस्वादन में सहायक होता है । अपितु यह वस्तु और व्यक्ति के बीच एकता का सम्बन्ध भी स्थापित करता है । उन्होंने कलानुभूति की प्रक्रिया का विस्तृत विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया कि किस प्रकार कलास्वादन की प्रक्रिया

7. A history of esthetics : By K. E. Gilbert, Pages 505-515.
8. Western Aesthetics : Pande, Page 234.
9. Western Aesthetics : K. C. Pande, Page 260-62.
१०. वही ।
११. वही ।
12. The same, Pages 265-67.
13. A history of Esthetics : By Gilbert, Page 508-10.

सौन्दर्यात्मक भावों के आस्वादन की प्रक्रिया है। इस प्रकार उन्होंने कला के आधार-भूत तत्त्व के रूप में 'भाव' की प्रतिष्ठा की।

विगत शताब्दी में अमरीकन विद्वान् जार्ज सैतायना ने अपनी कृति 'सेंस ऑफ ब्यूटी' (Sense of Beauty) में कलागत सौन्दर्य की भावपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा है—'सौन्दर्य एक भावात्मक तत्त्व है जिसका स्वरूप प्रसन्नतादायक है किन्तु उसे हम वस्तुओं का गुण समझ लेते हैं।'<sup>१४</sup> यदि इसे और अधिक स्पष्ट किया जाय तो कहा जा सकता है कि सौन्दर्य वस्तु का वह गुण है जो आनन्ददायक भाव उत्पन्न करता है। इस आनन्ददायक भाव की अनुभूति के लिए कला-कृति में विभिन्न भावों का चित्रण होना चाहिए। इस सम्बन्ध में उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व रति भाव का स्वीकार किया है। जिस प्रकार भारतीय आचार्यों ने शृंगार को रस-राज की उपाधि दी है, वैसे ही सैतायना महोदय ने इसे सर्वोत्कृष्ट भाव मानते हुए लिखा है—'यदि किसी भी विषय-वस्तु को निश्चित रूप से सुन्दर बनाना है तो उसके लिए रति भाव से बढ़ कर और कोई अच्छा साधन प्राप्त नहीं होगा।'<sup>१५</sup> रतिभाव के अतिरिक्त उन्होंने वात्सल्य, देश-प्रेम, करुणा, निर्वेद हास्य-व्यंग्य आदि को भी कलाओं की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है। इस प्रकार इस वर्ग के विद्वानों ने कलामें भावों के प्रस्तुतीकरण या चित्रण पर बल देते हुए तत्सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर विस्तार से विचार किया है।

### ३.३. भावानुभववादी वर्ग—

इस वर्ग में मुख्यतः जॉन ड्युई (John Dewey) महोदय को रक्खा जा सकता है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'आर्ट एज एक्सपीरियन्स' (Art As Experience) में कला की व्याख्या भावानुभूति के रूप में की है। उनके शब्दों में—सभी प्रकार के भाव नाटक (या कला) के गुण हैं तथा ज्यों-ज्यों नाटक का अभिनय अग्रसर होता जाता है, त्यों-त्यों भावों में भी परिवर्तन आता रहता है।.....यह अनुभूति भावात्मक ही होती है किन्तु उसमें भाव अनुभूति से पृथक कोई तत्त्व नहीं होते।'<sup>१६</sup> उनके विचार से भाव नाटक या कला की विषयवस्तु से सम्बद्ध रहते हैं। विषय-वस्तु में घटनाओं एवं परिस्थितियों का आयोजन इस प्रकार होता है कि जिससे पाठकों को भावानुभूति प्राप्त होती है। काव्य की विषय-वस्तु में भाव ही प्रेरक एवं संयोजक शक्ति है। विषय-वस्तु में किसे चुना जाय और किसे छोड़ा जाय, या उसे किस तरह प्रस्तुत किया जाय—यह सब भावना-शक्ति पर ही निर्भर है। इस प्रकार

14. "Beauty is an emotional element, a pleasure of ours, which nevertheless we regard as a quality of things."

—Sense of Beauty, Page 37.

15. Sense of Beauty, Page 47.

16. Art as experience : By John Dewey (1934), Page 41.

उन्होंने भावों को ही कला का आधारभूत तत्त्व मानते हुए उनके सम्बन्ध में अनेक निष्कर्ष प्रस्तुत किये, जिनमें से ये उल्लेखनीय हैं<sup>१७</sup>—(क) कला की विषय-वस्तु का केन्द्रीय तत्त्व भाव ही है। सारी वस्तु का चुनाव और संघटन भाव तत्त्व को ध्यान में रखकर ही होता है। (ख) कला में घटनाओं और परिस्थितियों का आयोजन भी उन्हें भाव से सम्बन्धित करके ही किया जाता है। (ग) पात्रों के व्यवहारादि का प्रदर्शन भी उन भावों के अनुकूल ही किया जाता है। इस प्रकार काव्य का लक्ष्य भावानुभूति से सम्बन्धित विभिन्न तत्त्वों का प्रस्तुतीकरण एवं चित्रण करते हुए पाठक को भावानुभूति प्रदान करना माना गया है।

### ३.४. भावाभिव्यक्ति वादी वर्ग—

क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद से प्रेरित एवं प्रभावित होकर अनेक विद्वानों ने भावाभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की। इनमें आर० जी० कार्लिंगवुड और इ० एफ० कैरिट महोदय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। श्री कार्लिंगवुड महोदय ने अपनी कृति 'दी प्रिंसिपलस ऑफ आर्ट' (१९३६) में भाव सिद्धान्त के पूर्व प्रचलित रूपों का विरोध करते हुए प्रतिपादित किया कि कला का लक्ष्य भावों का उद्दीपन या प्रस्तुतीकरण मात्र नहीं है, अपितु भावों की अभिव्यक्ति करना है।<sup>१८</sup> उन्होंने ऐसी कलाओं को जो केवल भावोद्दीप्ति को ही अपना लक्ष्य मानती है 'मिथ्या कला' की संज्ञा दी है।<sup>१९</sup> साथ ही भावों का वर्णन करना भी सच्ची कला के अनुरूप नहीं है। भावों के वर्णन एवं भावाभिव्यक्ति में क्या अन्तर है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने बताया कि जब एक व्यक्ति कहता है कि "मैं गुस्से में हूँ" तो अवश्य ही वह भाव की अभिव्यक्ति नहीं अपितु उसका वर्णन कर रहा है।<sup>२०</sup> गुस्से का व्यञ्जना करने वाला व्यक्ति इसके स्थान पर कहेगा—"मैं उसे मार डालूँगा .....आदि।" अस्तु, सच्ची कला में भावों का वर्णन नहीं—अपितु उनकी अभिव्यक्ति होती है।<sup>२१</sup>

कैरिट महोदय ने भी कला के समस्त सौन्दर्य का आधार उसमें निहित भावाभिव्यक्ति को ही माना।<sup>२२</sup> उन्होंने अपने मत को प्रस्तुत करने से पूर्व भाव सिद्धान्त के विरोधी आलोचकों के तर्कों एवं आक्षेपों का निराकरण दृढ़तापूर्वक किया है। भावाभिव्यक्ति का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने बताया कि सामान्यतः लोग भावों के वर्णन, भावों के चित्रण, भावों के उत्तेजन आदि को ही भावाभिव्यक्ति से

17. Art as Experience : By John Dewey, Page 50-80.

18. The Principle of Art: By R. G. Collingwood (1945), Page 80-85.

१९. वही।

२०. वही, पृष्ठ १०६-१११।

२१. वही।

22. An introduction to Aesthetics : By E. F. Carritt, Page 64-66.

अभिन्न मान लेने की भूल कर बैठते हैं, जबकि इनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर है।<sup>२३</sup> उदाहरण के लिए आँसुओं को हम दुःख का चिह्न तो कह सकते हैं किन्तु कोरे आँसुओं के उल्लेख से ही शोक की अभिव्यक्ति नहीं हो जाती। इसी प्रकार 'काले कपड़े' या झुका हुआ झड़ा शोक का प्रतीक तो है किन्तु इस प्रतीकात्मकता से ही भावों की अभिव्यक्ति नहीं हो जाती।<sup>२४</sup> प्रतीकों से बौद्धिक संकेत मात्र उपलब्ध होते हैं—उनसे भावाभिव्यक्ति जन्य अनुभूति प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार भावोत्तेजना एवं भावाभिव्यक्ति में भी स्पष्ट अन्तर है। किसी व्यक्ति को अस्पताल में लेजाकर उसकी कठुणा जागृत की जा सकती है—किन्तु इसे भावाभिव्यक्ति नहीं कह सकते। उनके विचार से सच्ची भावाभिव्यक्ति वह है जब कलाकार भावों की प्रत्यक्ष अनुभूति के शान्त हो जाने पर पुनः कल्पना के बल पर उस अनुभूति के साक्षात्कार के द्वारा अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करता है।<sup>२५</sup> इस प्रकार सफल भावाभिव्यक्ति के लिए भावों की अनुभूति तो अपेक्षित ही है साथ में दो गुण और भी चाहिए—एक तो उसकी कल्पना-शक्ति पर्याप्त सशक्त होनी चाहिए जिससे कि वह अतीत एवं अप्रत्यक्ष की गहराइयों में उतर कर अपरोक्ष का साक्षात्कार कर सके। दूसरे, उसके पास अर्जित शिल्प-विधि भी होनी चाहिए। क्रोचे की भाँति कैरिट ने शिल्पज्ञान की उपेक्षा नहीं की। वस्तुतः उनकी मान्यता के अनुसार सफल भावाभिव्यक्ति के लिए कल्पना और शिल्प दोनों का ही महत्त्व है; उनके शब्दों में—'शिल्प या माध्यम के अभाव में महान् कल्पना-शील को भी चुप हो जाना पड़ता है तो दूसरी ओर प्रतिभा के अभाव में शिल्पी कोरी नकलें—या इससे भी बदतर भाव-हीन मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत कर देगा। अतः दोनों का सामंजस्य अपेक्षित है।'<sup>२६</sup>

कैरिट महोदय ने कला के माध्यम से न केवल कलाकार की अपितु सामाजिक की भी भावाभिव्यक्ति स्वीकार की है। कला के माध्यम से कलाकार की अनुभूति पाठक के हृदय में संप्रेषित होती है तथा समानुभूति (Empathy) की प्रक्रिया के अनुसार वह कवि से तादात्म्य स्थापित करता हुआ भावों की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार सफल कला या सच्ची कला कलाकार और सामाजिक दोनों के ही भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करती है।<sup>२७</sup>

### ३.५. भाव-प्रेषणवादी वर्ग—

इस वर्ग में मुख्यतः टाल्सटाय एवं रिचर्ड्स को ले सकते हैं। टाल्सटाय ने 'व्हाट इज आर्ट' ग्रन्थ में अपने कला सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करते हुए बताया कि कला-सृष्टि का लक्ष्य भावों का प्रेषण करना है।<sup>२८</sup> कला में ऐसी क्षमता है कि वह

23-25. An Introduction to Aesthetics : E. F. Carritt.

26. The same, Chapter 15.

27. The same, Chapter 11.

28. 'What is Art ?' Tolstoy, Page 50.

सभी प्रकार के भावों को—चाहे वे अच्छे हों या बुरे, उच्च हों या निम्न, महत्वपूर्ण हों या गौण—पाठक के मन में प्रेषित कर सकती है। उच्च कोटि की कला की सबसे बड़ी कसौटी यही है कि वह कलाकार के भावों को सामाजिकों तक प्रेषित करती है। टाल्सटाय के शब्दों में—“यदि एक व्यक्ति सरलतापूर्वक अपने दृष्टिकोण को बिना परिवर्तित किये किसी रचना को सुनकर, देखकर, या पढ़कर एक ऐसी मानसिक स्थिति का अनुभव करता है जिसमें कलाकार एवं अन्य सामाजिकों के साथ उसका तादात्म्य स्थापित होता है तो निश्चित ही वह रचना कला-कृति है, अन्यथा किसी रचना में भले कितना ही यथा-तथ्य वर्णन हो, कितनी ही वह प्रभावशाली हो और चाहे कितनी ही मनोरंजक हो—यदि वह उक्त आत्मिक एकता का भाव जागृत नहीं करती तो उसे ‘कला’ की संज्ञा नहीं दी जा सकती।”<sup>२९</sup>

इसी प्रकार टाल्सटाय महोदय ने भावों के प्रेषण को ही कला की सर्वोच्च कसौटी के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु सभी कलाएँ एक स्तर की नहीं होती—अतः उनसे भावों का प्रेषण भी सर्वदा एक ही स्तर का नहीं होता। इस दृष्टि से उन्होंने भावों के प्रेषण के तीन स्तर निर्धारित किये हैं—(१) भावों की व्यापकता, (२) भावाभिव्यक्ति की स्पष्टता और (३) भावों की सघनता। भाव जितने बड़े जन-समूह की अनुभूति से सम्बन्धित होंगे, उतने ही वे अधिक व्यापक कहे जा सकते। साथ ही भावाभिव्यक्ति जितनी अधिक स्पष्ट एवं सघन होगी उतनी ही अधिक गहराई से वे सामाजिक के हृदय को छू सकेंगी। अतः कला के माध्यम से व्यक्त भावों में व्यापकता स्पष्टता एवं सघनता का होना कला की उत्तरोत्तर उत्कृष्टता का प्रमाण है।<sup>३०</sup>

आई० ए० रिचर्ड्स ने भी भाव-प्रेषण सिद्धान्त को नये रूप में प्रस्तुत किया है।<sup>३१</sup> उन्होंने अपने प्रेषणीयता के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि के रूप में सर्वप्रथम यह सिद्ध किया है कि प्रेषणीयता न केवल कलाकार के लिए अपितु हमारी समस्त मानवता के लिए आवश्यक है। प्रेषणीयता के द्वारा ही मानव-संस्कृति का विकास हुआ है। दूसरे, कलाकार को कला-सृजन के लिए प्रेषणीयता का विशेष प्रयास नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, कलाकार अपने कार्य में जितनी तल्लीनता से जुटेगा, उसकी रचना में उतनी ही अधिक प्रेषणीयता आ सकेगी। तीसरे, प्रेषणीयता कोई रहस्यात्मक व्यापार नहीं है। प्रेषणीयता का तात्पर्य है एक विशेष परिस्थिति में अनेक व्यक्तियों के मस्तिष्क में एक जैसी अनुभूति का उत्पन्न हो जाना। सामान्य जीवन में दो व्यक्तियों की अनुभूतियों का पारस्परिक प्रेषण तभी होता है जब कि एक में वर्णन-क्षमता हो और दूसरे में ग्रहण-क्षमता तथा साथ ही दोनों के जीवन की परिस्थितियाँ,

29. The same, Page 152.

30. ‘What is art?’—Tolstoy, Page 165.

31. Principles of Literary Criticism : I. A. Richards, Page 26-32.

अनुभूतियाँ एवं उनके संस्कार समान हों। कलाकार अपनी रचना के माध्यम से सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सफलता से अपनी अनुभूतियों को प्रेषित कर पाता है। इस प्रकार रिचर्ड्स महोदय ने अनुभूतियों के प्रेषण को महत्त्व प्रदान करते हुए भी उसे एक सर्वथा प्राकृत एवं लौकिक व्यापार माना है। उसे अलौकिक या रहस्यपूर्ण अनुभूति मानने की आवश्यकता नहीं।

### ३.६. उपर्युक्त वर्गों का समन्वय—

भाव सम्बन्धी उपर्युक्त वर्गों—भावोद्दीप्तिवादी, भावावलम्बनवादी, भावानुभववादी, भावाभिव्यक्तिवादी और भाव-प्रेषणवादी के अध्ययन से लगता है कि ये वर्ग परस्पर-विरोधी हैं। कुछ वर्गों के विद्वानों ने स्पष्ट रूप से दूसरे वर्गों की धारणाओं का विरोध भी किया है। किन्तु गहराई से देखने पर ज्ञात होगा कि ये वर्ग परस्पर विरोधी न होकर वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं। भावोद्दीप्ति से लेकर भाव-प्रेषण तक की सारी प्रक्रियाएँ एक ही कार्य की विभिन्न अवस्थाओं की सूचक हैं। यदि इन्हें ठीक क्रम से रखा जाय तो कहा जा सकता है कि पहले कवि भावों की अनुभूति प्राप्त करता है (भावानुभववाद), तदनन्तर वह कला के माध्यम से अपने भावों को प्रस्तुत करता है (भावावलम्बनवाद), इस प्रकार उसके भावों की अभिव्यक्ति (भावाभिव्यक्तिवाद) होती है। कला के माध्यम से व्यक्त भाव सामाजिक के हृदय तक प्रेषित होते हैं (भाव-प्रेषणवाद) तथा कला-स्वादन की चरम अवस्था में सामाजिक के भाव भी उद्दीप्त होकर व्यक्त होने लगते हैं—जिसे हम भावोद्दीप्तिवाद या भावाभिव्यक्तिवाद कह सकते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इनमें से एक क्रिया के अभाव में दूसरी क्रिया का महत्त्व न्यून हो जाता है। यदि कवि ने अपने भावों की अभिव्यक्ति करदी किन्तु उसके भाव पाठक के हृदय में प्रेषित नहीं हुए या वे पाठक के भावों को उद्दीप्त न कर सके तो उस अभिव्यक्ति का क्या मूल्य है? साथ ही यदि कवि के पास भावों की अनुभूति ही नहीं है तो वहाँ उनकी अभिव्यक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। अस्तु, विभिन्न वर्ग के विद्वानों ने किसी एक ही प्रक्रिया को अधिक महत्त्व देकर तथा शेष प्रक्रियाओं की उपेक्षा करके ठीक नहीं किया। जिस प्रकार भोजन को ग्रहण कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसका पचना, रस-बनना आदि भी आवश्यक है, वैसे ही कलाओं में भावों का प्रस्तुतीकरण ही आवश्यक नहीं है उनका प्रेषण, उद्दीपन एवं अभिव्यंजन भी आवश्यक है। वस्तुतः भाव सम्बन्धी इन विभिन्न प्रक्रियाओं का समावेश आकर्षण-शक्ति की चार प्रक्रियाओं—संयोजन, संप्रेषण, द्रवण एवं अभिव्यक्ति में भली-भाँति हो जाता है। संयोजन के अन्तर्गत भावानुभववाद एवं भावावलम्बनवाद का, संप्रेषण में भाव-प्रेषणवाद का, द्रवण में भावोद्दीप्तिवाद का और अभिव्यक्ति में भावाभिव्यक्तिवाद का समन्वय हो जाता है। शाब्दिक दृष्टि से भले ही यह समन्वय कहीं थोड़ा अस्वाभाविक प्रतीत हो किन्तु मूल क्रिया की दृष्टि से यह सर्वथा स्वाभाविक है। या

यों कहिए कि कवि और पाठक की जिस मानसिक-प्रक्रिया का विवेचन हमने संयोजन, संप्रेषण, द्रवण आदि के अन्तर्गत किया है, उन्हीं का विवेचन इन वादियों ने पृथक्-पृथक् रूप से विभिन्न वादों के अन्तर्गत किया है। अतः ये सारे वाद आकर्षण-सिद्धान्त में सहज ही समन्वित हो जाते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि काव्य जन्य भाव को जहाँ हमने आकर्षण का नाम दिया है, वहाँ इन्होंने प्रायः भाव संज्ञा का ही प्रयोग किया है। वैसे इन सौन्दर्य-शास्त्रियों में से भी अनेक ने कलाजन्य भाव और सामान्य भाव में मूल प्रकृति की दृष्टि से थोड़ा बहुत अन्तर स्वीकार किया है—अतः कलाजन्य भावों को लौकिक भावानुभूतियों से पृथक् करने के लिए उन्हें 'आकर्षण' का नाम देना इन आचार्यों की मान्यता से बहुत दूर नहीं पड़ता।



## ४

### भाव तत्त्व :

#### काव्य-शास्त्रीय विवेचन



जिस प्रकार मनोवैज्ञानिकों एवं सौन्दर्य-शास्त्रियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से अपने विषय-क्षेत्र की आवश्यकता के अनुसार भावों का विवेचन किया है, वैसे ही काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने भी साहित्यिक दृष्टिकोण से इनकी व्याख्या की है। इन आचार्यों के विवेचन को हम मुख्यतः दो वर्गों—भारतीय एवं पाश्चात्य—में विभाजित करते हुए उनके प्रमुख विचारों का अध्ययन कर सकते हैं।

#### (क) भारतीय काव्य-शास्त्र

##### ४.१. रस सिद्धान्त : सामान्य परिचय—

भारतीय काव्य-शास्त्र में भाव-विवेचन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने किया है। जैसा कि अन्यत्र बताया जा चुका है, इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा आचार्य भरतमुनि (समय अनुमानतः प्रथम शती) ने की थी तथा उनके अनन्तर भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक, अभिनव गुप्त आदि प्राचीन आचार्यों ने व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० गुलाबराय, डा० नगेन्द्र, डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित प्रभृति आधुनिक विद्वानों ने इसे और अधिक स्पष्ट एवं व्यापक रूप प्रदान किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार कवि का लक्ष्य सामान्यतः किसी एक प्रमुख भाव की व्यंजना करना होता है, जिसे 'स्थायी भाव' कहा जाता है। इस स्थायी भाव की व्यंजना विभिन्न अवयवों के माध्यम से होती है, जिन्हें मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है—(१) विभाव (२) अनुभाव और (३) व्यभिचारी या संचारी भाव। इन अवयवों के भी अनेक भेदोपभेद किये गये हैं, जिनकी चर्चा आगे की जायगी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य भरत मुनि ने इन अवयवों की कल्पना इस व्यापक दृष्टि से की थी कि जिससे काव्य की सारी सामग्री मूल भाव से

या स्थायी भाव से सुसम्बद्ध रूप में प्रस्तुत हो सके किन्तु परवर्ती युग के कतिपय विद्वानों ने इस लक्ष्य को भुला दिया जिससे अनेक अवयवों का रूप विकृत एवं संकीर्ण हो गया है। साथ ही रस-सिद्धान्त के विरोधियों का यह भी कहना है कि इस सिद्धान्त की उपर्युक्त स्थापनाएँ आधुनिक मनोविज्ञान के प्रतिकूल हैं। अतः हम आगे रस के विभिन्न अवयवों का अध्ययन करते समय इन तथ्यों को भी ध्यान में रखेंगे तथा उनके व्यापक एवं मनोविज्ञान-संगत रूप के उद्घाटन का प्रयास करेंगे।

## ४.२. रसावयवों की व्याख्या—विभाव—

जिन कारणों से भाव उद्दीप्त होता है, उन्हें ही रस-सिद्धान्त की शब्दावली में 'विभाव' कहा गया है। इसके भी दो प्रमुख भेद किये गये हैं—(१) आलम्बन और (२) उद्दीपन। भाव का मुख्य विषय ही 'आलम्बन' कहा जाता है जब कि उसके उद्दीपन में योग देने वाली अन्य परिस्थितियाँ 'उद्दीपन' कही जाती हैं।<sup>१</sup> उदाहरण के लिए जंगल में शेर को देखकर हम भयभीत होते हैं—यहाँ 'शेर' आलम्बन है जब कि जंगल का वातावरण उद्दीपन है। चिड़िया-घर या सरकस में हम शेर को देख कर भी नहीं डरते—क्योंकि वहाँ भय का आलम्बन तो विद्यमान रहता है किन्तु उद्दीपक परिस्थितियों का अभाव रहता है ; अतः रस-सिद्धान्त के अनुसार भावोद्दीप्ति के लिए केवल आलम्बन या सम्बन्धित विषय का ही प्रस्तुतीकरण पर्याप्त नहीं है, उसके साथ उद्दीपक परिस्थितियों या 'उद्दीपन' की अनुकूलता भी अपेक्षित है। रस-सिद्धान्त की यह मान्यता आधुनिक मनोविज्ञान के भी सर्वथा अनुकूल है क्योंकि उसमें भी विषय (Object) और परिस्थिति (Psychological situation) दोनों के प्रभाव से ही भाव की उद्दीप्ति मानी गई है।<sup>२</sup> अतः रस-सिद्धान्त के आचार्यों का आलम्बन के साथ-साथ उद्दीपन को महत्त्व देना सर्वथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है।

रस-सिद्धान्त के मध्यकालीन विवेचक भावों के आलम्बन के रूप में केवल व्यक्ति विशेष की तथा उद्दीपन के रूप में केवल प्राकृतिक वातावरण की ही चर्चा करते रहे हैं, जिससे उनका आलम्बन एवं उद्दीपन सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित हो गया है। हमारे विचार से यह ठीक नहीं। भाव का आलम्बन केवल व्यक्ति ही नहीं अन्य विषय भी बन सकता है। एक परीक्षार्थी गोल्ड-मैडल जीतने के लिए लगातार उत्साहित होकर कार्य में लगा हुआ है, या एक देश-भक्त मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता के लिए आत्म-त्याग कर रहा है, या कोई अन्य व्यक्ति स्वर्णाभूषण को देखकर उसे पाने के लिए उत्कण्ठित हो रहा है—ऐसी स्थितियों में हम इन व्यक्तियों के मनोभावों का

१. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० ४६-५०।

२. Emotions in man and animal : P. T. young, Page 44.

आलम्बन किसे कहेंगे ? यहाँ निश्चित ही व्यक्ति-विशेष आलम्बन न होकर विचार-विशेष, या वस्तु-विशेष ही आलम्बन है। अतः भावालम्बन के रूप में सदा व्यक्ति-विशेष की ही चर्चा करना उचित नहीं—व्यक्तियों के अतिरिक्त विशेष विचार, विशेष लक्ष्य, विशेष पदार्थ या वस्तु आदि भी भाव के विषय या आलम्बन बन सकते हैं। यह दूसरी बात है कि कई बार विषय-वस्तु के साथ-साथ उससे सम्बन्धित व्यक्ति भी आलम्बन बन जाता है। जैसे, कि कई बार धन के स्थान पर धनपति, परीक्षा के स्थान पर परीक्षक या प्रश्न-पत्र ही हमारी चित्तवृत्ति-विशेष के आलम्बन बन जाते हैं। किन्तु फिर भी हमें यहाँ मूल विषय (आलम्बन) एवं तत्सम्बन्धी अन्य विषय का भेद ध्यान में रखना चाहिए अन्यथा भावों का सम्यक् विश्लेषण संभव नहीं।

आलम्बन की भाँति उद्दीपन का भी क्षेत्र भरत परवर्ती आचार्यों ने अत्यन्त संकुचित कर दिया है। सामान्यतः उद्दीपन के अन्तर्गत प्राकृतिक वातावरण, युद्ध-भूमि और श्मशान के दृश्यों आदि का उल्लेख किया जाता है। अवश्य ही यह वातावरण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु यही सब कुछ नहीं है। उद्दीपन के अन्तर्गत केवल प्राकृतिक वातावरण ही नहीं, व्यक्ति का पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं युग-विशेष का वातावरण तथा विभिन्न दृश्यों, परिस्थितियों एवं घटनाओं का भी समावेश किया जाना चाहिए। वस्तुतः वह सारा परिवेश तथा वे सारी परिस्थितियाँ जो कि व्यक्ति के मन को प्रभावित एवं उत्तेजित कर सकती हैं—‘उद्दीपन’ के अन्तर्गत ली जानी चाहिए। साहित्य में भी भावोद्दीप्ति के लिए इन सबका आयोजन एवं चित्रण किया जाता है। अस्तु, रस-सिद्धान्त की आलम्बन एवं उद्दीपन सम्बन्धी मान्यताओं को इस व्यापक रूप में ही हमें ग्रहण करना चाहिए।

### ४.३. अनुभाव—

भावों की प्रेरणा से व्यक्ति जो चेष्टाएँ करता है, उन्हें रस-सिद्धान्त की शब्दावली में ‘अनुभाव’ कहा जाता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी ‘अनुभाव’ का अर्थ है—‘अनु पश्चाद् भावो यस्य सोऽनुभावः अर्थात् जो भाव के पीछे उत्पन्न होता है, वह अनुभाव है।<sup>३</sup> किसी व्यक्ति की चेष्टाओं से ही हम उसके मनोभावों का बोध करते हैं; इस लिए इन्हें ‘भावन’ या भाव का ‘अनुभव’ प्रदान करने का भी श्रेय दिया जाता है। लौकिक दृष्टि से हम भावनाओं की प्रेरणा से जितने भी क्रिया-कलाप या कार्य संपादित करते हैं, वे सब ‘अनुभाव’ के अन्तर्गत आते हैं किन्तु कुछ लोगों ने केवल स्थूल चेष्टाओं तक ही अनुभावों के क्षेत्र को सीमित कर दिया है। यह बात स्वयं रस-सिद्धान्त की मान्यताओं के विपरीत है। साहित्य-दर्पणकार<sup>४</sup> एवं रस

३. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विवेचन : डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ० २३।

४. “लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः” : साहित्य-दर्पण।

गंगाधरकार<sup>५</sup> ने स्पष्ट रूप में लिखा है कि लौकिक दृष्टि से इन्हें 'कार्य' कहा जाता है। उदाहरण के लिए 'पद्मावत' में रत्नसेन के राज्य-त्याग, उसकी समुद्र-यात्रा, बड़ी-बड़ी कठिनाइयों से संघर्ष, युद्ध आदि सभी कार्य उसकी प्रणय-भावना के ही व्यक्त रूप हैं, जो शास्त्रीय दृष्टि से 'अनुभाव' हैं। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की दृष्टि से इन्हें 'कार्य' भी कह सकते हैं। अतः अनुभावों के अन्तर्गत भाव-प्रेरित कार्यों को स्थान देना उचित होगा।

अनुभावों के चार वर्ग किये गये हैं—'आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य'।<sup>६</sup> आंगिक में शारीरिक चेष्टाएं एवं क्रियाएँ, वाचिक में वार्तालाप, संभाषण आदि, सात्विक में सूक्ष्म मानसिक क्रियाएँ तथा आहार्य में वेश-भूषा सम्बन्धी पारवर्तन आ जाते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हमारी पोशाक का भी हमारी मनःस्थिति मानसिक दशाओं, एवं मनोवृत्तियों से सम्बन्ध होता है, इसीलिए रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने इसे अनुभाव के अन्तर्गत स्थान दिया है। अस्तु, भावों की अभिव्यक्ति जिन-जिन माध्यमों से हो सकती है, तथा भावों की प्रेरणा से हम जो भी कुछ करते हैं—वह सब 'अनुभाव' के अन्तर्गत आता है। इस दृष्टि से अनुभावों का भावों से गहरा सम्बन्ध है तथा इनका क्षेत्र बहुत व्यापक है।

#### ४.४. संचारी भाव और स्थायी भाव—

रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने काव्यगत भावों को दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया है—संचारी भाव और स्थायी भाव। जैसा कि इन दोनों के नाम से ही सूचित होता है, संचारी भाव संचरणशील एवं अस्थिर होते हैं, वे किसी-एक ही आलम्बन से सम्बद्ध नहीं रहते, तथा शीघ्र ही अन्य भावों में परिणत हो जाते हैं जब कि स्थायी भाव अधिक समय तक स्थिर रहता है तथा वह अन्य सजातीय या विजातीय भावों से तिरोहित नहीं होता।<sup>७</sup> एक ही स्थायी भाव में अनेक संचारी भावों का आवा-गमन हो सकता है इसीलिए रस-सिद्धान्त में स्थायी भाव को ही प्रमुखता दी गई है। इन स्थायी भावों के आठ प्रमुख भेद माने गये हैं जब कि संचारियों की संख्या तैंतीस निर्धारित की गई है। इस प्रकार संचारी और स्थायी भावों का वर्गीकरण रस-सिद्धान्त की आधारभूत विशेषता है। किन्तु आधुनिक युग के अनेक विद्वानों ने इस वर्गीकरण को अस्पष्ट, असंगत एवं आधुनिक मनोविज्ञान के प्रतिकूल बताया है—अतः इस वर्गीकरण पर यहाँ मनोविज्ञान की दृष्टि से भी विचार कर लेना उचित होगा।

५. रसगंगाधर पृ० ३३।

६. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, पृ० ५८।

७. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ३५।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक हमारी समस्त मानसिक प्रवृत्तियों को मुख्यतः तीन क्षेत्रों में विभाजित करते हैं—(१) बौद्धिक प्रवृत्तियाँ (२) भावात्मक प्रवृत्तियाँ और (३) चेष्टामूलक प्रवृत्तियाँ। इनमें भावात्मक प्रवृत्तियों का ही भावों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, अतः इनके रूप-भेद को हमें स्पष्टतः समझ लेना चाहिए। हमारी समस्त भावात्मक प्रवृत्तियों की मूल आधार हमारी सहज प्रवृत्तियाँ (Instincts) मानी गई हैं—जिन्हें परम्परागत शब्दावली में वासनाएँ भी कहा जा सकता है। हमारी ये सहज प्रवृत्तियाँ या जन्मजात प्रवृत्तियाँ या वासनाएँ ही बाह्य वातावरण एवं परिस्थितियों के प्रभाव—भारतीय शब्दावली में संस्कार—से पोषित, विकसित एवं उद्दीप्त होती हुई विभिन्न भावात्मक प्रवृत्तियों का रूप धारण कर लेती हैं।<sup>१८</sup> हमारी सहज प्रवृत्तियों (Instincts) का विकास चरित्रिक प्रवृत्तियों एवं स्वभावगत गुणों में, स्वभावगत गुणों का भावनाओं (Sentiments) में, भावनाओं का भावात्मक दृष्टिकोण (attitude) में, भावात्मक दृष्टिकोण का मनोदशाओं (Moods) में, मनोदशाओं का मूल भावों (Primary Emotions) में, मूल भावों का व्युत्पन्न भावों (Derived Emotions) में और व्युत्पन्न भावों का अनुभूतियों (Feeling) के रूप में विकास या अभिव्यक्ति होती है। दूसरी ओर इसका विपरीत क्रम भी चलता है—अर्थात् अनुभूतियाँ क्रमशः व्युत्पन्न भावों, मूल भावों, मनोदशाओं, दृष्टिकोणों, भावनाओं आदि के रूप में परिणत होती हुई हमारी सहज प्रवृत्तियों को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार हमारी समस्त भावात्मक प्रवृत्तियों का आरोह और अवरोह या आवागमन सहज प्रवृत्तियों से लेकर अनुभूतियों तक और अनुभूतियों से लेकर सहज प्रवृत्तियों तक चलता रहता है।

अनुभूतियों से लेकर सहज प्रवृत्तियों तक की उपर्युक्त भावात्मक प्रवृत्तियाँ उत्तरोत्तर अधिक गंभीर, व्यापक एवं स्थायी हैं तो दूसरी ओर सहज प्रवृत्तियों से लेकर अनुभूतियों तक की प्रवृत्तियाँ उत्तरोत्तर अधिक व्यक्त एवं संचरणशील हैं—इस दृष्टि से प्रत्येक पहली प्रवृत्ति को दूसरी की अपेक्षा अधिक स्थायी कहा जा सकता है या प्रत्येक अगली प्रवृत्ति को पहली प्रवृत्ति की तुलना में संचारी कहा जा सकता है। रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने इन भावात्मक प्रवृत्तियों के इतने स्तर-भेद या श्रेणी-भेद निर्धारित न करके स्थूल रूप से उनके दो ही स्तर-भेद निश्चित किये हैं। एक ओर सहज प्रवृत्ति से लेकर मूल भाव तक की भावात्मक प्रवृत्तियों को उन्होंने स्थायी भाव की संज्ञा दी है तो दूसरी ओर शेष दो प्रवृत्तियों—व्युत्पन्न भाव (Derived emotions) और अनुभूतियों (Feeling) को 'संचारी' की संज्ञा दी है। अतः रस-सिद्धान्त के आचार्यों का यह विभाजन आधुनिक मनोविज्ञान की अपेक्षा स्थूल तो है किन्तु उसके प्रतिकूल नहीं है। स्थायी भाव की संचारी भावों के रूप में

अभिव्यक्ति या संचारी भावों से स्थायी भाव की पुष्टि की बात भी मनोविज्ञान के अनुकूल है। जैसा कि पीछे संकेत किया गया है—उपर्युक्त स्थायी प्रवृत्तियाँ एक ओर संचारी प्रवृत्तियों के रूप में क्रमशः व्यक्त होती हैं तो दूसरी ओर संचारी प्रवृत्तियाँ क्रमशः स्थायी प्रवृत्तियों को पुष्ट करती हैं ; अतः रस-सिद्धान्त की ये मान्यताएँ सर्वथा मनोविज्ञान-संगत हैं।

अब यदि हम रस-सिद्धान्त के स्थूल स्तर-निर्धारण को आधुनिक मनोविज्ञान के सूक्ष्म श्रेणी-विभाजन से समन्वित करना चाहें तो स्थायी भाव और संचारी भाव के अनेक श्रेणी-भेद और किये जा सकते हैं ; जैसे कि नीचे तालिका रूप में प्रस्तुत हैं—

- (१) स्थायी भाव → स्तर-भेद—
- |     |                                      |
|-----|--------------------------------------|
| ↓ ↑ | १. सहज प्रवृत्ति (वासना)             |
| ↓ ↑ | २. चारित्रिक प्रवृत्तियाँ एवं स्वभाव |
| ↓ ↑ | ३. भावनाएँ (Sentiments)              |
| ↓ ↑ | ४. भावात्मक दृष्टिकोण (Attitudes)    |
| ↓ ↑ | ५. मनोदशाएँ (Moods)                  |
| ↓ ↑ | ६. मूल भाव (Primary Emotions)        |
- (२) संचारी भाव → स्तर-भेद—
- |     |                                      |
|-----|--------------------------------------|
| ↓ ↑ | १. व्युत्पन्न भाव (Derived Emotions) |
| ↓ ↑ | २. अनुभूतियाँ (Feelings)             |

## ४.५. उपर्युक्त वर्गीकरण की पुष्टि—

उपर्युक्त तालिका में हम ने रस-सिद्धान्त के स्थायी भाव को आधुनिक मनोविज्ञान के वर्गीकरण से समन्वित करते हुए उसके छः उपभेद प्रस्तुत किये हैं, किन्तु यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या रस-सिद्धान्त के आचार्य इस वर्गीकरण को स्वीकार कर लेंगे ? रस का सम्बन्ध केवल भावों से ही है अतः उसके साथ चारित्रिक प्रवृत्तियों आदि को सम्बद्ध करना रस-सिद्धान्त के मूल दृष्टिकोण के अनुरूप कैसे कहा जा सकता है ? अतः इस वर्गीकरण पर रस-सिद्धान्त के आचार्यों की दृष्टि से भी पुनर्विचार कर लेना आवश्यक है।

स्थायी भाव के अन्तर्गत सर्व प्रथम हम ने सहज प्रवृत्ति (Instincts) या वासना को स्थान दिया है। हमारी प्रत्येक भावात्मक प्रवृत्ति मूल रूप में या अव्यक्त रूप में सहज प्रवृत्ति या वासना ही कहलाती है तथा यह वासना प्रत्येक प्राणी के मानस में सदा विद्यमान रहती है। इस तथ्य का अनुमोदन स्वयं रस-सिद्धान्त के आचार्यों की उक्तियों से ही हो जाता है—आचार्य अभिनव गुप्त ने 'अभिनव भारती' में स्थायी भाव की विवेचना करते हुए लिखा है—“स्थायित्वं चैतावतामेव । जात एव जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति ।” अर्थात् स्थायी इतने ही होते हैं क्योंकि प्रत्येक प्राणी इतनी ही वासनाओं से युक्त होता है।<sup>१</sup> साथ ही ये जन्म से ही प्राणी में रहती हैं,

वासनाओं से शून्य कोई भी प्राणी नहीं है। वस्तुतः अभिनव गुप्त ने वासनाओं के व्यक्त रूप को स्थायी भाव और स्थायी भाव के अव्यक्त रूप को वासना मानते हुए दोनों की अद्वैतता का प्रतिपादन स्पष्ट रूप में किया है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वासना के अभिनव गुप्त ने जो लक्षण बताये हैं वे लगभग वही हैं जो मनोवैज्ञानिकों ने सहज प्रवृत्ति (Instinct) के बताये हैं। अभिनव गुप्त के मत को मम्मट, विश्वनाथ, वामन शलकीकर आदि विद्वानों ने भी स्वीकार किया है,<sup>१०</sup> अतः स्थायी भाव की प्रथम अवस्था के रूप में सहज प्रवृत्तियों या वासना को स्वीकार करना रस-सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के प्रतिकूल नहीं है।

सहज प्रवृत्ति चारित्रिक प्रवृत्तियों के रूप में विकसित होती हुई हमारी भावात्मक क्रिया-कलापों को नियंत्रित या प्रेरित करती हैं—अतः चारित्रिक प्रवृत्तियों को भी भाव-क्षेत्र से पृथक् नहीं किया जा सकता। यह तथ्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के भी ध्यान में आ गया था—इसी लिए उन्होंने ‘चारित्रिक प्रवृत्तियों’ को ‘शीलदशा’ की संज्ञा देते हुए लिखा है—“उपर्युक्त विवेचन का संक्षिप्त परिणाम यह निकला कि जिन्हें साहित्य में भाव कहते हैं, उनकी तीन दशाएँ मिलती हैं—भाव-दशा, स्थायी दशा और शील-दशा।”<sup>११</sup>.....“शील दशा का उपयोग काव्य में कहाँ तक होता है, अब यह देखना चाहिए। यों देखने में रस-योजना में उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता।.....पर उच्च लक्ष्य रखने वाले मनुष्य की प्रकृति का संस्कार या निर्माण करने की सामर्थ्य रखने वाले प्रबन्ध-काव्य या नाटक के चरित्र-चित्रण का आधार ‘शील दशा’ ही है।.....आलम्बन का स्वरूप संघटित करने में उपादान रूप होकर ‘शीलदशा’ रसोत्पत्ति में पूरा योग देती है।”<sup>१२</sup> आचार्य शुक्ल ने विस्तार से विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि रस के साथ शीलदशा या चारित्रिक प्रवृत्तियों का गहरा सम्बन्ध है—अतः इस सम्बन्ध में और अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं। इतना अवश्य है कि आचार्य शुक्ल ने ‘शीलदशा’ को ‘स्थायीदशा’ से पृथक् रूप दिया है जब कि हमने स्थायीदशा को व्यापक रूप में ग्रहण करते हुए ‘शीलदशा’ को उसी के विकास की एक अवस्था या उसी का एक स्तर-भेद माना है जिस प्रकार हम ‘लस्सी’ को दही का विकसित रूप कहें या उसका नया रूप—दोनों बातों में व्यावहारिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, वैसे ही आचार्य शुक्ल की मान्यता से हमारी उपर्युक्त धारणा में विशेष अन्तर नहीं है; अतः इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार अनपेक्षित है।

१०. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण ; डा० दीक्षित, पृ० ४६।

११. रस-मीमांसा : आचार्य शुक्ल, पृ० १८६।

१२. रस-मीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १८६।

स्थायी भाव के विकास की तीसरी अवस्था को हमने 'भावना' (Sentiment) की संज्ञा दी है। वस्तुतः यह स्थायी भाव की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अवस्था है। जिस प्रकार बीज और उसमें से फूटनेवाला अंकुर तो धरती के गर्भ में ही छिपा रहता है, उसके पल्लव ही हमें सबसे पूर्व आकर्षित करते हैं, वैसे ही स्थायी भाव रूपी वृक्ष का अव्यक्त एवं प्रच्छन्न रूप सहज प्रवृत्तियों एवं चारित्रिक गुणों में निहित रहता है—उसका पल्लवित रूप भावनाओं के रूप में ही दृष्टिगोचर होता है। साहित्य का केन्द्र यदि स्थायी भाव है तो स्थायी भाव का भी केन्द्र भावना या सेंटीमेंट है। इसी लिए स्थायी भाव की अनेक प्रमुख विशेषताएँ मनोवैज्ञानिकों के सेंटीमेंट में ज्यों की त्यों मिलती हैं। एक ओर मनोवैज्ञानिकों<sup>१३</sup> ने सेंटीमेंट को आलम्बन विशेष से सम्बन्धित तथा व्यवस्थित ढंग से विकसित ऐसी स्थायी प्रवृत्ति बताया है जो कि विरोधी और अविरोधी अनुभूतियों को समाहार अपने में कर लेती है तथा वह विरोधी भावों से भी विच्छिन्न नहीं होती तो दूसरी ओर रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने भी स्थायी भाव के सम्बन्ध में इन विशेषताओं का उल्लेख किया है।<sup>१४</sup> स्थायी भावों में से प्रेम और घृणा मनोविज्ञान की दृष्टि से सेंटीमेंट ही हैं। अतः सेंटीमेंट या भावना को स्थायी भाव की ही एक अवस्था मानना असंगत नहीं कहा जा सकता।

स्थायी भाव की अगली अवस्था भावात्मक दृष्टिकोण है। किसी भी विषय को विभिन्न व्यक्ति-विभिन्न रूपों में ग्रहण करते हैं, उसके पीछे उनका वैयक्तिक दृष्टिकोण होता है तथा यह वैयक्तिक दृष्टिकोण व्यक्ति के सेंटीमेंट या उसकी भावना पर आधारित होता है। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम के प्रसंग में लिखा है—“जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।”—व्यक्ति अपनी भावनाओं के अनुरूप ही विषय के प्रति दृष्टिकोण अपनाता है, और इस दृष्टिकोण के अनुरूप ही उसकी भावात्मक प्रक्रिया होती है ; अतः दृष्टिकोण या भावात्मक दृष्टिकोण को भी स्थायी भाव का महत्त्वपूर्ण अंग या उसकी एक अवस्था के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। विशेषतः भक्ति और निर्वेद की अनुभूति तो व्यक्ति के दृष्टिकोण पर ही अवलम्बित होती है। इसी प्रकार 'मनोदशा' (Mood) और 'मूल भाव' (Primary Emotions) भी उपर्युक्त स्थायी प्रवृत्तियों के ही विभिन्न विकसित एवं व्यक्त रूप हैं। उदाहरण के लिए, क्रोध और भय व्यक्ति की विशेष मनोदशा और उसके मूलभाव के व्यक्त रूप हैं। किन्तु परिस्थिति भेद से ये अनेक नये व्युत्पन्न या संचारी भावों को जन्म दे सकते हैं—इसी लिए इन्हें संचारी भावों की अपेक्षा अधिक स्थायी माना गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रस सिद्धान्त के आचार्यों के द्वारा परिगणित सभी स्थायी भाव एक ही कोटि या श्रेणी के नहीं हैं, उनका सम्बन्ध हमारी स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों

१३. एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल साइकोलॉजी : मैकडूगल, पृ० १३७-१४०।

१४. रस-सिद्धान्त स्वरूप-विश्लेषण : डा० दीक्षित, पृ० ४६।

के विकास की विभिन्न अवस्थाओं या श्रेणियों से है, जिन्हें आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. रति—भावना या सेटीमेंट ।
२. घृणा या जुगुप्सा— „ ।
३. भय—मूल भाव ।
४. क्रोध—मनःस्थिति (Mood) ।
५. शोक—मनःस्थिति (Mood) ।
६. उत्साह—चारित्रिक प्रवृत्ति ।
७. हास्य—मूल भाव ।
८. आश्चर्य—मूल भाव ।
९. निर्वेद—दृष्टिकोण ।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जब ये स्थायी भाव एक ही श्रेणी के नहीं हैं तो इन्हें एक ही वर्ग (स्थायी भाव) में रखना कहाँ तक उचित है ? ऐसी स्थिति में इस वर्गीकरण को तर्क-संगत कैसे कहा जा सकता है ? इसके उत्तर में, जैसा कि पीछे भी स्पष्ट किया गया है, कहा जा सकता है कि भले ही ये सभी स्थायी परस्पर एक श्रेणी के न हों किन्तु वे सभी संचारी भाव की अपेक्षा अधिक स्थायी हैं, इसलिए इन्हें एक ही वर्ग में रख दिया गया है । उदाहरण के लिए, यदि हम मनुष्यों के दो वर्ग बनावें—पुरुष और स्त्री, तो उस स्थिति में हम प्रत्येक पुरुष को पुरुष वर्ग में ही स्थान देगे, भले ही सभी पुरुष एक ही श्रेणी या एक ही स्तर के न हों । अतः इस दृष्टि से इस वर्गीकरण को अवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त इन सब के मूल में विभिन्न वासनाएँ या सहज प्रवृत्तियाँ होती हैं तथा इन सभी की अभिव्यक्ति विभिन्न व्युत्पन्न भावों और अनुभूतियों में होती है—ये तथ्य भी इस वर्गीकरण का समर्थन करते हैं । साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि जिस प्रकार हमारी सभी सहज प्रवृत्तियाँ जीवन में एक सा महत्त्व नहीं रखतीं, कुछ प्रमुख हैं और कुछ गौण हैं तथा सभी का क्षेत्र भी एक जैसा व्यापक नहीं है ; अतः सहज प्रवृत्तियों के इसी पारस्परिक अन्तर के अनुसार उनसे सम्बन्धित भावना एवं भावदशाओं के महत्त्व में भी अन्तर का आ जाना स्वाभाविक है । यही कारण है कि साहित्य के क्षेत्र में सभी रसों को एक जैसा सम्मान प्राप्त नहीं है ; सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही रूपों में जितना महत्त्व शृंगार रस को प्राप्त है उतना अन्य रसों को नहीं है क्योंकि शृंगार का सम्बन्ध जीवन की सर्वाधिक व्यापक प्रवृत्ति काम-वासना से है । अस्तु, रस-सिद्धान्त के भाव सम्बन्धी विवेचन एवं वर्गीकरण को अवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता, यह दूसरी बात है कि इसे और अधिक सूक्ष्म एवं व्यापक रूप दिये जा सकने की अभी पर्याप्त संभावना है ।

(ख) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र

४.६. अरस्तू से रिचर्ड्स तक भाव-विवेचन की परंपरा—

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भावों का बहुत अधिक विवेचन एवं विश्लेषण नहीं हुआ किन्तु अरस्तू से लेकर बीसवीं शती तक प्रायः सभी युगों में साहित्यिक दृष्टि से भाव का महत्व सदा स्वीकार किया जाता रहा है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए यहाँ हम विभिन्न युगों के कुछ प्रमुख विद्वानोंकी मान्यताएँ प्रस्तुत करते हैं।

अरस्तू ने त्रासदी का विवेचन करते हुए उसका लक्ष्य करुणा, त्रास, अद्भुत आदि भावों का उद्रेक करते हुए आनन्द प्रदान करना स्वीकार किया।<sup>१५</sup> 'भाषण-कला' के प्रसंग में उन्होंने विभिन्न भावों का विवेचन एवं वर्गीकरण भी किया है।<sup>१६</sup> उन्होंने सामान्यतः इन चौदह भावों या मनोवेगों को मान्यता दी है—(१) क्रोध (२) शम (३) प्रेयस् (४) वैर (५) भय (६) विश्वास (७) लज्जा (८) धृष्टता (९) दया (१०) निर्दयता (११) करुणा (१२) रोष (१३) ईर्ष्या (१४) स्पर्द्धा।<sup>१७</sup> इस सूची में न केवल भावों (Emotions) का अपितु भावात्मक दृष्टिकोण, भावना, भावात्मक प्रवृत्तियों आदि सभी का समावेश कर लिया गया है ; अतः आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से अरस्तू का यह भाव-विवेचन बहुत ही स्थूल एवं प्रारम्भिक कहा जा सकता है।

आगे चलकर लॉज़ाइनस ने काव्य के सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व के रूप में 'उदात्त' की प्रतिष्ठा की किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि उदात्त का स्रोत उद्दाम आवेग या भाव में निहित है।<sup>१८</sup> इतना ही नहीं उनके चिन्तन से उदात्त का लक्ष्य भी पाठक के भावों का उद्बोधन कर देना है।<sup>१९</sup> इस प्रकार अन्ततः उन्होंने भाव को उदात्त से भी अधिक महत्व प्रदान किया है।

परवर्ती युग में बुअलो, पोप, गेटे, प्रभृति साहित्यकारों ने भी भावोद्रेक को काव्य का लक्ष्य स्वीकार किया है। बुअलो ने लिखा—“यदि किसी परिश्रम-साध्य अंक में व्यक्त सुखद रोष क्रमशः हमारे मन में भय और आशा के भाव नहीं जगाता, न करुणा का ही उद्रेक करता है तो नाटकों में विद्वतापूर्ण दृश्यों का समावेश व्यर्थ है।”<sup>२०</sup> इसी प्रकार पोप ने भी भाव-विहीन कविताओं की निरर्थकता पर प्रकाश डालते हुए कहा—“परन्तु ऐसी कविताओं पर.....जो शुद्ध होते हुए भी भाव-विहीन

१५. अरस्तू का काव्य-शास्त्र : डा० नगेन्द्र, पृ० ३२ ।

१६. वही भूमिका, पृ० १५५ ।

१७. वही, पृ० १५६ ।

१८. काव्य में उदात्त तत्त्व ।

१९. वही ।

२०. भा० का० शा० प०, पृ० ६१ ।

होती हैं—हम चाहे उन पर दोष न लगायें परन्तु (उनसे ऊब कर) सो तो सकते ही हैं।”<sup>२१</sup> गेटे ने भी महाकाव्य के लिए मानवीय-भावनाओं का संस्पर्श आवश्यक माना है।

वर्ड्सवर्थ एवं कालरिज ने काव्य में कल्पना-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की किन्तु अन्ततः उन्होंने भी भाव के महत्त्व को स्वीकार किया है। वर्ड्सवर्थ ने अपने मित्र को एक पत्र में लिखा था—“तुम गहरी अनुभूति प्राप्त करो, अपनी भावानुभूतियों पर विश्वास रखो—कविता अपने आप बन जायगी।”<sup>२२</sup> दूसरी ओर कालरिज ने भी स्वीकार किया—“केवल वे ही बिम्ब मौलिक प्रतिभा के सूचक हैं जो कि किसी भावावेग से उद्वेलित एवं प्रेरित हों।”<sup>२३</sup>

उन्नीसवीं शती के प्रसिद्ध विद्वान् मैथ्यूआर्नल्ड का पूर्ववर्ती साहित्यकारों से कई बातों में मत-भेद था किन्तु जहाँ तक भाव का सम्बन्ध है, उन्होंने भी स्वीकार किया है कि कवि को ऐसे क्रिया-कलापों का चित्रण करना चाहिए जो कि मनुष्य के सहज-संस्कारों और उसकी मूल भावनाओं को आन्दोलित करने वाले हों।<sup>२४</sup> इसी प्रकार बीसवीं शती के श्रेष्ठ आलोचक डा० आई० ए० रिचर्ड्स ने काव्यगत विचारों का लक्ष्य भावोद्वेलन ही माना है। उनके शब्दों में—‘काव्य में जो भी वर्णन होता है, वह भावों को प्रभावित करने के लिए ही होता है ; वे वर्णन भावों एवं भावात्मक दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से ही प्रेरित होते हैं, उनका कोई अन्य स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं होता।’<sup>२५</sup> हडसन ने भी भाव को कविता का प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया है।<sup>२६</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रायः सभी युगों और सभी वर्गों के विद्वान्—भले ही अन्य बातों में उनमें परस्पर कितना ही मत-भेद क्यों न हो—भाव तत्त्व के सम्बन्ध में वे एक-मत हैं। काव्य में सारी सामग्री का आयोजन भावोद्रेक के लक्ष्य से ही होता है। यह भावोद्रेक तब ही होगा जबकि स्वयं काव्य की विषय-वस्तु रागात्मकता से युक्त होगी और विषय-वस्तु में रागात्मकता लाने के लिए स्वयं कवि या साहित्यकार में रागात्मकता अपेक्षित है। अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स तक क्रमशः पाश्चात्य विद्वान् इन्हीं निष्कर्षों तक पहुँचे हैं। भाव तत्त्व की अधिक मीमांसा उन्होंने नहीं की—कदाचित् यह कार्य उन्होंने मनोवैज्ञानिकों एवं सौन्दर्य शास्त्रियों को सौंप दिया है।

२१. भा० का० शा०, पृ० १०२।

२२. Literary Criticism : Brooks, Page 407.

२३. वही, पृ० ४०८।

२४. भा० का० शा० प०, पृ० १६४।

२५. प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म, पृ० १८४।

२६. इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ लिट्रेचर, पृ० ६६।

## ४.७. निष्कर्ष—

मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्य-शास्त्रीय एवं काव्य-शास्त्रीय दृष्टिकोणों से भाव-तत्त्व की गई विवेचना से उपलब्ध तथ्यों को निष्कर्ष रूप में यहाँ इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'भाव' के व्यापक अर्थ में भावावेग, अनुभूति, भाव-दशा, भावना, दृष्टिकोण, स्वभाव एवं सहज प्रवृत्ति तक सभी भावात्मक प्रवृत्तियों को ग्रहण किया जा सकता है, जब कि संकीर्ण अर्थ में भाव केवल भावावेग (Emotion) तक सीमित है।

(२) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सहज प्रवृत्तियों का विकास एवं अभिव्यक्ति क्रमशः स्वभाव, भावना, दृष्टिकोण, भाव-दशा, भावावेग एवं अनुभूति के रूप में होता है जब कि ये वृत्तियाँ विपरीत क्रम से पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों की पुष्टि में योग देती हैं।

(३) सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि से कला (काव्य-कला) का भावों से पाँच प्रकार का सम्बन्ध है ; भावोद्दीप्ति, भावों की प्रस्तुति, भावों की अनुभूति, भावाभिव्यक्ति एवं भावों का संप्रेषण। इन पाँचों का समन्वय आकर्षण शक्ति की चार प्रक्रियाओं—संयोजन, संप्रेषण, द्रवण और अभिव्यक्ति—में हो जाता है।

(४) मनोवैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार रस-सिद्धान्त को संशोधित रूप में स्वीकार किया जा सकता है। संक्षेप में संशोधित रूप इस प्रकार है—

(क) स्थायी भाव की सीमा में मूल भाव, मनोदशा, भावना, चारित्रिक प्रवृत्ति एवं सहज प्रवृत्ति आदि सभी स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियों को स्थान दिया जाय।

(ख) संचारी भाव में मनोविज्ञान के व्युत्पन्न भावों एवं अनुभूतियों का समावेश किया जाय।

(ग) आलम्बन के अंतर्गत केवल व्यक्ति-विशेष को ही नहीं, आश्रय के लक्ष्य से सम्बन्धित वस्तु, विचार, प्रयोजन आदि को भी लिया जाना चाहिए।

(घ) उद्दीपन में केवल प्राकृतिक वातावरण ही नहीं, परिस्थितियों एवं घटनाओं को भी लिया जाना चाहिए।

(ङ) अनुभाव में पात्रों की चेष्टाएँ ही नहीं उनके सभी क्रिया-कलाप लिये जाने चाहिए।

भावों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में अन्यत्र प्रयास किया जायगा।

## ५

# भाव-प्रधान साहित्य :

## वर्गीकरण एवं विवेचन



पीछे भाव-तत्त्व की सामान्य विवेचना करते हुए स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्रीय एवं साहित्य-शास्त्रीय दृष्टि से कला एवं साहित्य में भाव तत्त्व की प्रमुखता मानी गई है। किन्तु 'भाव-तत्त्व की प्रमुखता' का आशय यही है कि प्रायः साहित्य में अन्य तत्त्वों — विचार और कल्पना के साथ-साथ भाव तत्त्व की प्रमुखता रहती है ; अतः किसी भी साहित्य को केवल भाव-तत्त्व पर आधारित नहीं माना जा सकता, दूसरे तत्त्वों की न्यूनाधिक सत्ता उसमें सदा विद्यमान रहेगी। इतना ही नहीं साहित्य के कुछ प्रकार ऐसे भी हैं जिनमें भाव तत्त्व की अपेक्षा विचार एवं कल्पना-तत्त्व प्रमुख हो जाते हैं। उदाहरण के लिए आचार्य शुक्लके विचारात्मक लेखों या भारतेन्दु युगीन लेखकों के कल्पना-प्रधान स्वप्नों (राजा भोज का सपना) को देखा जा सकता है। अतः इस दृष्टि से हम सारे साहित्य के तीन भेद कर सकते हैं—भाव-प्रधान, विचार-प्रधान और कल्पना-प्रधान। यहाँ हम भाव-प्रधान साहित्य का विवेचन करते हैं, शेष दो भेदों का विवेचन क्रमशः विचार एवं कल्पना तत्त्व की व्याख्या के अनन्तर किया जायगा।

### ५.१. भाव-प्रधान साहित्य : सीमा-निर्धारण—

भाव-प्रधान साहित्य का क्षेत्र स्पष्ट करने के लिए हम उसकी निम्नांकित सीमाएँ निर्धारित कर सकते हैं—

(क) भाव-प्रधान रचना के केन्द्र में भाव तत्त्व प्रतिष्ठित होता है, शेष तत्त्व उसी के सहयोगी या पूरक रूप में होते हैं यह स्थिति उसी अवस्था में आती है, जबकि कवि का लक्ष्य मूलतः भाव तत्त्व की व्यंजना करना होता है, किसी विचार, सिद्धान्त या सदेश का प्रतिपादन करना नहीं होता। उदाहरण के लिए हम सूरदास के 'सूरसागर' एवं प्रसाद की 'कामायनी' को ले सकते हैं। जहाँ 'सूरसागर' में कवि का लक्ष्य विशुद्ध

भावाभिव्यक्ति है वहाँ 'कामायनी' में अंततः विचार या संदेश की व्यंजना करना है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि सूरसागर विचारों की दृष्टि से सर्वथा शून्य है या कामायनी में भाव तत्त्व का सर्वथा अभाव है—अपितु जैसा कि पहले कहा गया है, साहित्य की प्रत्येक रचना में भाव और विचार विद्यमान रहते हैं किन्तु यहाँ सवाल प्रमुखता का है। 'सूरसागर' में या 'मीरा' के गीतों में विचार भी ढूँढ़े जा सकते हैं किन्तु वे गौण रूप में ही मिलेंगे। इसके विपरीत 'कामायनी' में विचार तत्त्व ही प्रमुख है—प्रारम्भिक सर्गों में भाव तत्त्व की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है किन्तु आगे चल कर स्पष्ट हो जाता है कि यह भाव तत्त्व परवर्ती विचार तत्त्व की भूमिका तैयार करने के लिए ही आया था, विचार तत्त्व के आगमन के अनंतर भाव तत्त्व गौण एवं उपेक्षित हो जाता है। यह स्थिति वैसी ही है जैसी कि किसी मंत्री महोदय के आगमन से पूर्व पुलिस के अधिकारी उनके सम्मान की व्यवस्था करते समय या उनके आगमन की भूमिका तैयार करते हुए—सामान्य जनता की अपेक्षा प्रमुख दिखाई देते हैं, किन्तु मंत्री जी के आते ही उनकी प्रमुखता लुप्त हो जाती है। अतः किसी अन्य के साधन के रूप में की गई चहल-पहल चाहे कुछ समय के लिए प्रमुख दिखाई दे किन्तु अन्ततः वह किसी अन्य की प्रमुखता स्वीकार कर लेती है। अतः 'कामायनी' जैसी, रचनाओं को संपूर्ण रूप में भाव-प्रधान न कह कर विचार-प्रधान कहना ही उचित होगा, यह दूसरी बात है कि हम उसके कुछ अध्यायों को अलग-अलग रूप में 'भाव-प्रधान' भी कह सकते हैं। किन्तु यह निर्णय आंशिक रूप में ही लागू होगा, संपूर्ण कामायनी पर नहीं। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या आंशिक निर्णय एवं सम्पूर्ण निर्णय का यह भेद परस्पर-विरोधी एवं अवैज्ञानिक नहीं है? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि आंशिक निर्णय एवं सम्पूर्ण (अंतिम) निर्णय में अन्तर का होना अस्वाभाविक एवं अवैज्ञानिक नहीं है। एक विद्यार्थी जो एक विषय में प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त करता है, और दूसरे में तृतीय श्रेणी के—उसका सम्पूर्ण परीक्षाफल इन दोनों से ही भिन्न श्रेणी अर्थात् द्वितीय श्रेणी का हो सकता है। यह भी हो सकता है कि वह कुछ पेपर्स में अच्छी तरह उत्तीर्ण हो और सम्पूर्ण में मिलाकर अनुत्तीर्ण रहे। इसी प्रकार साहित्यिक रचनाओं के किसी एक अंश को हम भाव-प्रधान और दूसरे को विचार-प्रधान कह सकते हैं किन्तु उसके सम्पूर्ण रूप के सम्बन्ध में निर्णय करते समय हमें यह देखना होगा कि मूलतः कवि का लक्ष्य भावाभिव्यक्ति है या विचार की व्यंजना या अन्ततः भाव विचार की प्रमुखता स्वीकार कर लेता है या विचार भाव की।

अस्तु, किसी रचना को भाव-प्रधान स्वीकार करने के पूर्व हमें उपर्युक्त तथ्यों पर भली भाँति विचार कर लेना चाहिए, अन्यथा किसी एक अंश को देखकर ही किया गया निर्णय दोष-पूर्ण एवं असंगत सिद्ध हो सकता है।

(ख) भाव-प्रधान साहित्य की दूसरी कसौटी यह है कि उसमें केन्द्रीय भाव विशुद्ध अनुभूति की दृष्टि से प्रस्तुत होता है, आलोचना, निन्दा या प्रशंसा के लिए नहीं। उदाहरण के लिए जब एक कवि प्रेम भाव का चित्रण विशुद्ध प्रेम की अनुभूति व्यक्त करने के लिए करता है तो वह भावानुभूति होगी, किन्तु यदि वहाँ उसका लक्ष्य 'प्रेम करना अच्छा होता है' या 'प्रेम करना बुरा होता है'—ऐसा कुछ सिद्ध करना हुआ तो उस स्थिति में उसकी रचना 'भाव-प्रधान' न रहकर 'विचार प्रधान' हो सकती है ; क्योंकि जहाँ प्रेम एक भाव है, वहाँ उसके सम्बन्ध में कोई भी निर्णय विचार कहा जायगा। जब भाव विशुद्ध अनुभूति के रूप में प्रस्तुत होते हैं, तब ही वे भाव रहते हैं, अन्यथा भावों का बौद्धिक विवेचन-विश्लेषण एवं उनके सम्बन्ध में विभिन्न निर्णय 'विचार' की कोटि में आ जाते हैं। अतः भाव-प्रधान साहित्य के लिए किसी भाव-विशेष की केन्द्रीय सत्ता का होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु वहाँ भाव का अनुभूति रूप में प्रस्तुत होना भी आवश्यक है। संक्षेप में कहें तो भाव-प्रधान साहित्य में केवल भाव की नहीं—भावानुभूति की प्रमुखता अपेक्षित है।

(ग) भाव-प्रधान साहित्य की तीसरी एवं अंतिम कसौटी हम यह निर्धारित कर सकते हैं कि उसके आस्वादन से पाठक की बुद्धि की अपेक्षा उसका हृदय, उसके विचारों की अपेक्षा उसकी भावनाएँ अधिक प्रभावित होती है। दूसरे शब्दों में भाव-प्रधान साहित्य पाठक को भी भावानुभूति प्रदान करता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भाव-प्रधान साहित्य में रचयिता, रचनागत तत्त्वों एवं पाठक की अनुभूति इन तीनों की ही दृष्टि से भाव की प्रमुखता रहती है शेष तत्त्व उसके सहयोगी, अनुचर या साधन के रूप में ही उपस्थित होते हैं।

## ५.२. भाव-प्रधान साहित्य का वर्गीकरण—

वैज्ञानिक विवेचन एवं विश्लेषण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि भाव-प्रधान साहित्य को भी विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाय। यह वर्गीकरण भावों के विभिन्न भेदों के आधार पर किया जा सकता है। रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने इस प्रकार का प्रयास करते हुए बहुत पूर्व विभिन्न स्थायी भावों के आधार पर रसों का वर्गीकरण किया है। यह प्रयास कितना सफल रहा है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि विगत दस-बारह शताब्दियों से या इससे भी अधिक दीर्घ समय से अब तक इसे अधिकांश भारतीय आचार्यों द्वारा बराबर मान्यता मिलती रही है तथा इसके आधार पर साहित्य का वर्गीकरण, विश्लेषण एवं विवेचन होता रहा है। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि यह वर्गीकरण पूर्णतः संतोषजनक भी नहीं है—इसी लिए रस-संख्या के संकोच एवं विस्तार के प्रयास भी समय-समय पर

होते रहे हैं। इधर बीसवीं शताब्दी के अनेक विद्वानों ने मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक उपयोग की दृष्टि से इस वर्गीकरण की उपयुक्तता को चुनौती दी है। पर रस वादी वर्गीकरण को अनुपयुक्त घोषित करने वाले आधुनिक विद्वान भी इसके स्थान पर कोई और अधिक उपयुक्त वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं, अतः ऐसी स्थिति में विरोधियों के प्रयास भी अपने-आप में निष्फल हैं। शायद उनका उद्देश्य केवल यह बताना हो कि भावों के आधार पर साहित्य का वर्गीकरण ही अनुचित प्रयास है तो उस स्थिति में हमारा यही उत्तर होगा कि भाव साहित्य का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है तथा वर्गीकरण की प्रक्रिया वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति का एक अनिवार्य अंग है— अतः इस प्रयास को ही अनुचित बताना अवैज्ञानिकता का परिचायक है। अस्तु, यहाँ आवश्यकता इस बात की है कि हम रसवादी वर्गीकरण के गुण-दोषों को ध्यान में रखते हुए उसे संशोधित रूप में प्रस्तुत करें। आगे हम ऐसा ही करेंगे।

### ५.३. रस-वादी वर्गीकरण : एक समीक्षा—

जैसा कि हम अन्यत्र बता चुके हैं, रस वादी वर्गीकरण में सारे भावों को मूलतः दो कोटियों—स्थायी भाव और संचारी—में विभाजित करते हुए स्थायी भावों के आधार पर साहित्य का वर्गीकरण किया गया है। इस वर्गीकरण के मूल में यह धारणा भी काम करती है कि विभिन्न स्थायी भावों की प्रमुखता के अनुसार विभिन्न साहित्यिक रचनाओं के आस्वादन में भी परस्पर सूक्ष्म अन्तर विद्यमान रहता है। अतः प्रत्येक स्थायी भाव के अनुसार ही उसके आस्वाद्य रूप या रसों की संख्या निर्धारित की गई है। इस प्रकार रस-वाद के अनुसार एक रचना में उसके स्थायी भाव की प्रमुखता के अनुसार ही उसके रस का निर्णय किया जाता है। किन्तु रसों की संख्या या स्थायी भाव के भेदों की संख्या कितनी है—इस सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद हैं। सामान्यतः भरत मुनि के द्वारा प्रस्तावित आठ रसों—जो ये हैं ; शृंगार (रति स्थायी भाव), करुण (शोक), वीर (उत्साह), भयानक (भय), रौद्र (क्रोध) हास्य (हास्य), अद्भुत (विस्मय) और बीभत्स (घृणा या जुगुप्सा) —को तो अधिकांश विद्वान स्वीकार करते हैं पर कुछ विद्वानों को इस संख्या से संतोष नहीं है। वे कुछ नये रसों की स्थापना करते हुए रसों की संख्या में विस्तार करना चाहते हैं। यदि इस सम्बन्ध में सभी मुद्दाओं को स्वीकार किया जाय तो रस-संख्या लगभग पच्चीस तक पहुँच जाती है। उपर्युक्त आठ रसों के अतिरिक्त नये मुद्दाये हुए रस ये हैं<sup>१</sup>—

१. शान्त रस (प्रस्तावक मूलतः उद्भट)।

२. प्रेयान् (रुद्रट)।

३. उदात्त (भोज) ।
  ४. उद्धत् (भोज) ।
  ५. वात्सल्य (विश्वनाथ) ।
  ६. भक्ति (रूप गोस्वामी) ।
  ७. स्नेह (अभिनव गुप्त) ।
  ८. लौल्य ( , , )
  ९. माया (रसतरंगिणीकार) ।
  १०. कार्पण्य (भानुदत्त) ।
  ११. प्रक्षोभ (अनिल—मराठी लेखक) ।
  १२. क्रान्ति (जावडेकर) ।
  १३. प्रेम (काका कालेलकर) ।
  १४. विपाद (इलाचन्द जोशी) ।
  १५. ब्राह्म
  १६. संभोग
  १७. विप्रलम्भ
- } (संगीत सुधाकर का रचयिता) ।

उपर्युक्त रसों में से कुछ को—जैसे, शान्त, भक्ति, वात्सल्य को—परवर्ती विद्वानों से थोड़ी-बहुत मान्यता मिल गई है, किन्तु शेष के बारे में आलोचक प्रायः मौन है। ऐसी स्थिति में सबसे पहली आवश्यकता यह है कि हम या तो प्रस्तावित रसों को स्वीकार करें या अस्वीकृति का कारण बतावें।

दूसरी ओर, विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो रस-संख्या-विस्तार के स्थान पर संख्या-संकोच को अधिक ठीक मानता हुआ किसी एक रस में ही शेष रसों का अन्तर्भाव कर देता है। इस दृष्टि से शृंगार, शान्त, करुण और आश्चर्य का नाम अलग-अलग विद्वानों द्वारा प्रस्तावित हुआ है। अतः इस सम्बन्ध में भी निर्णय अपेक्षित है।

अस्तु, हमारे सामने दो परस्पर विरोधी समस्याएँ हैं—एक ओर स्थायी भावों व रसों की संख्या-विस्तार की माँग है तो दूसरी ओर उस संख्या को केवल एक तक सीमित कर देने की बात है। हम यहाँ दोनों ही माँगों को उचित रूप में पूरी करने का प्रयास करेंगे।

### ५.५. स्थायी भावों एवं रसों की संख्या-विस्तार की समस्या—

सब से पूर्व हमें विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तावित सत्रह नये रसों को मान्यता देने के प्रश्न पर विचार करना है। इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रस्तावों पर अलग-अलग रूप में विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि किसी नये रस को मान्यता देने का आधार क्या है या कोई भाव रसत्व के उपयुक्त है या नहीं, इसकी कसौटी

क्या है—इसका निर्णय करें। स्थायी भाव के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए हमने पीछे बताया था कि इसके अन्तर्गत आधुनिक मनोविज्ञान की वे सारी भावात्मक एवं भाव मूलक प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं जो कि अनुभूति एवं व्युत्पन्न भाव से अधिक स्थिर हैं। इस दृष्टि से सहज-प्रवृत्तियाँ, चारित्रिक प्रवृत्तियाँ, भावनाएँ (Sentiments), भावात्मक दृष्टिकोण, मनोदशाएँ (Moods) और मूल भाव (Primary emotions) —ये सब स्थायी भाव के क्षेत्र में आते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से ये सभी स्थायी भावात्मक प्रवृत्तियाँ हैं—यद्यपि इनके स्थायित्व में परस्पर अन्तर है, पर फिर भी ये सब संचारी भावों या व्युत्पन्न भावों की अपेक्षा स्थिर हैं। किन्तु रस वादी आचार्यों ने सभी स्थायी भावों को रस-दशा के उपयुक्त नहीं माना है—वे एक शर्त और रखते हैं; वह है आस्वाद्यत्व की अर्थात् केवल वे ही स्थायी भाव रस दशा में विकसित हो सकते हैं जिनमें आस्वादन प्रदान करने की क्षमता हो या जो आस्वादित हो सकें। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस 'आस्वाद्यत्व' की व्याख्या करते हुए लिखा है—“आश्रय के जिस भाव की व्यंजना से श्रोता या दर्शक के चित्त में भी आलम्बन के प्रति वही भाव साधारण्याभिमान से उपस्थित हो सकता है उसी को रस का प्रवर्तक मानकर आचार्यों ने प्रधान भाव (=स्थायी भाव) की कोटि में रखा है। इस बात को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए। शोक का आलम्बन ऐसा होता है कि वह मनुष्य मात्र को क्षुब्ध कर सकता है पर आनन्द में यह बात नहीं है।”<sup>२</sup> इसी बात को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा है—“साहित्य के आचार्यों का सारा भाव-निरूपण रस की दृष्टि से—अर्थात् किसी भाव की व्यंजना से श्रोता या दर्शक में भी उसी भाव की सी प्रतीति के विचार से—किया गया है। अतः जो भाव ऐसे है जिन्हें किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का सा अनुभव कर सकते हैं वे तो प्रधान भावों में रखे गये हैं, शेष भाव और मन के वेग संचारियों में डाले गए हैं।”<sup>३</sup>

आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त मान्यता हमें तर्क-संगत प्रतीत नहीं होती। यदि हम आश्रय के भाव के साथ पाठक के भाव की समानुभूति को ही स्थायी भाव की कसौटी मानें तो हमें बहुत से स्थायी भावों को जैसे, क्रोध, घृणा, भय आदि को पूर्व स्वीकृत सूची में से निकाल देना होगा। सही बात तो यह है कि काव्यगत पात्र की किसी भी भावानुभूति को पाठक ज्यों की त्यों अनुभव कर सके—यह बहुत कम संभव है। काव्यगत पात्र के शोक और भय के प्रति हमारी करुणा या सहानुभूति ही होती है, उससे हमारे मन में शोक और भय की वास्तविक अनुभूति नहीं होती अन्यथा हमें काव्यानन्द प्राप्त नहीं होता। फिर

२. रस-मीमांसा : आचार्य शुक्ल, पृ० १६७।

३. रस-मीमांसा, पृ० २०२।

पहले से ही यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक भाव इस योग्य है और अमुक नहीं ? आचार्य शुक्ल हर्ष और आनन्द में आस्वाद्यत्व की क्षमता नहीं मानते किन्तु हमारे विचार से ऐसा नहीं है। शकुन्तला और दुष्यन्त के पुनर्मिलन, कीचक के बध एवं राम की विजय का हर्ष केवल सम्बन्धित पात्रों को ही नहीं पाठकों के हृदय को भी पुलकित करता है। अतः आचार्य शुक्ल की कसौटी के अनुसार तो 'हर्ष' को भी स्थायी भाव मान लिया जाना चाहिए, जब कि वस्तुतः वह संचारी भाव है। 'हर्ष' में आस्वाद्यत्व की क्षमता है फिर भी वह स्थायी भाव नहीं बन पाता—इसका कारण क्या है ? दूसरी ओर 'शोक' स्थायी भाव है—ऐसा क्यों ? इसका ठीक उत्तर साहित्य-शास्त्री नहीं दे पाये, किन्तु मनोविज्ञान के आधार पर इसका समाधान किया जा सकता है। 'हर्ष' और 'शोक' दोनों ही भाव (Emotion) न होकर अनुभूति (Feeling) मात्र हैं, तथा अनुभूतियाँ संचारी की श्रेणी में आती हैं क्योंकि उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, वे किसी न किसी अन्य भाव के साथ उपस्थित होती हैं। रही बात 'शोक' को स्थायी भाव मानने की—वस्तुतः यह मान्यता भी भ्रामक है। 'करुण' रस का स्थायी भाव 'शोक' नहीं अपितु 'करुणा' है। यदि हम 'करुणा' के स्थान पर 'शोक' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसे 'लाक्षणिक' प्रयोग समझना चाहिए। जिस प्रकार 'विदूषक' की मूर्खतापूर्ण बातें पाठक के मन में हास्य उत्पन्न करती हैं, वैसे ही दुःखी पात्र का शोक करुणा या सहानुभूति उत्पन्न करता है ; अतः इस दृष्टि से 'मूर्खता' और 'शोकग्रस्तता'—दोनों ही दो पृथक्-पृथक् स्थायी भावों के आलम्बन हैं, पर ये स्वयं स्थायी भाव नहीं हैं। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार सभी पात्रों का 'हर्ष' पाठक के हृदय को स्पर्श नहीं करता उसी प्रकार सभी पात्रों का 'शोक' भी सर्वत्र संवेद्य नहीं होता। अभिमन्यु की मृत्यु पर कौरवों का हर्ष और कुम्भकर्ण की मृत्यु पर रावण का शोक—दोनों ही पाठक के मन में समानुभूति जागृत नहीं करते। अतः स्पष्ट है कि विशेष परिस्थितियों में ही हर्ष और शोक संवेद्य होते हैं तथा दोनों एक ही कोटि के हैं। 'करुणा' की भावना—केवल अनुभूति मात्र नहीं अपितु एक स्थायी भाव-प्रवृत्ति है, अतः वह करुण रस का स्थायी भाव है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्थायीभावों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे काव्यगत आश्रय एवं पाठक के मन में एक सी अनुभूति उत्पन्न करें। जैसा कि डा० नगेन्द्र तथा अन्य विद्वानों ने स्पष्ट किया है काव्यगत सामग्री का साधारणीकरण ही होता है, उससे पाठक का तादात्म्य होना आवश्यक नहीं। पाठक का तादात्म्य केवल कवि या साहित्यकार से ही होता है—काव्यगत किसी भी पात्र से नहीं। काव्यगत पात्रों की अनुभूति लौकिक होती है। जिसमें 'सांसारिकता' का कटु संस्कार थोड़ा-बहुत सदा विद्यमान रहता है, जब कि कवि और पाठक सांसारिकता के कटु संस्कार से मुक्त रसात्मकता की अनुभूति प्राप्त करते हैं—अतः पाठक का तादात्म्य कवि से

होता है काव्यगत आश्रय से नहीं। काव्यगत सामग्री को कवि जिस दृष्टिकोण से देखता है उसी दृष्टिकोण से सारे पाठक देखते हैं, अतः काव्य-सामग्री का सामान्यीकरण या साधारणीकरण हो जाता है। आचार्य शुक्ल ने तादात्म्य और साधारणीकरण के इस अन्तर को ध्यान में न रखकर काव्यगत भावों (स्थायी भाव) पर साधारणीकरण के स्थान पर तादात्म्य की शर्त लागू कर दी है जो ठीक नहीं।

ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि आस्वाद्यत्व का हम क्या आशय ग्रहण करें ? तादात्म्य न सही, क्या भावों के साधारणीकरण को हम आस्वाद्यत्व का द्योतक मान लें ? इसका उत्तर भी निषेधात्मक होगा। काव्य में साधारणीकरण केवल स्थायी भावों का ही नहीं—‘संचारी भावों’ का भी होता है। ‘स्मृति’ को हमारे यहाँ संचारी माना गया है, किन्तु यह भी आस्वाद्य है। उदाहरण के लिए घनानन्द की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

“वहै चतुराई सों चिताई, चाहिबे की छबि,

वहै छैलताई न छिनक विसरति है।

आनन्द-निधान प्रान प्रीतम सुजान जू की,

सुधि सब भाँतिन सों वेसुध करति है।”

अस्तु, हमारे विचार से न केवल स्थायी भाव अपितु संचारी भी काव्य में आस्वाद्य होते हैं। इसी प्रकार प्रेम, वात्सल्य एवं करुणा जैसे कोमल एवं मधुर भावों से लेकर क्रोध, भय, घृणा जैसे कठोर एवं कटु भाव भी काव्य में आस्वाद्य होते हैं। जिस प्रकार अच्छा ‘रसोइया कड़वे से कड़वे करेले को भी स्वादिष्ट रूप दे सकता है वैसे ही सफल साहित्यकार प्रत्येक भाव को आस्वाद्य बना सकता है—अतः काव्य में किसी भी भाव को आस्वाद्य के अयोग्य बताना, कवि की क्षमताओं पर अविश्वास करना है। ऐसी स्थिति में भावों पर आस्वाद्यत्व की शर्त लगाना ही हमें असंगत एवं अनुचित प्रतीत होता है।

आस्वाद्यत्व के अतिरिक्त भी स्थायी भाव के लिए कुछ शर्तें और लगाई गई हैं—जैसे, उत्कटत्व, सर्वजन-सुलभत्व, पुरुषार्थोपयोगित्व एवं औचित्य। हमारे विचार से भाव की उत्कटता, उपयोगिता एवं उसका औचित्य इस बात पर निर्भर है कि वह कैसी परिस्थिति में और किस प्रकार प्रस्तुत किया गया है, अतः इस सम्बन्ध में पहले से ही किसी भाव को उत्कटता, उपयोगिता एवं औचित्य से हीन घोषित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार सर्व-जन-सुलभत्व की शर्त भी अनावश्यक है क्योंकि हमारी भाषा में केवल उन्हीं भावों का नामकरण हो पाया है जो मानव-मात्र के सामान्य भाव हैं या जो सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में उद्बलित हो सकते हैं। वस्तुतः आस्वाद्यत्व से लेकर औचित्य तक की ये शर्तें भाव या स्थायी भाव की कसौटी न होकर इस बात की कसौटी मानी जा सकती है कि किसी कवि को

स्थायी भाव की अभिव्यक्ति में कहाँ तक सफलता मिली है ? क्या वह स्थायी भाव को आस्वाद्य, उत्कट, उचित एवं स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत कर पाया है या नहीं ? इसका तात्पर्य यह है कि किसी स्थायी भाव में यदि आस्वाद्यत्व, उत्कटता आदि के गुण नहीं आ पाये तो इसका दोष मूल स्थायी भाव का नहीं, अपितु कवि या साहित्यकार की प्रतिभा का है। उदाहरण के लिए, एक कवि के बाल-वर्णन में वात्सल्य की अभिव्यक्ति आस्वाद्य रूप में नहीं हो सकी तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वात्सल्य भाव ही स्थायी होने के उपयुक्त नहीं हैं, अपितु यह उस कवि की काव्य-क्षमता का दोष है। अस्तु, उपर्युक्त कसौटियों का उपयोग व्यावहारिक समीक्षा में ही किया जा सकता है, स्थायी भाव के सैद्धान्तिक विवेचन या निर्णय में नहीं।

### ५.५. मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आस्वाद्यत्व, उत्कटता आदि गुणों के आधार पर स्थायी भावों का निर्धारण नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में यदि इस सम्बन्ध में आधुनिक मनोविज्ञान से सहायता ली जाय तो अधिक उचित होगा। जैसा कि हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं, आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से 'स्थायी भाव' एक बहुत व्यापक संज्ञा है जिसके क्षेत्र में सहज प्रवृत्तियाँ (Instincts), चारित्रिक प्रवृत्तियाँ, भावनाएँ, भावदशाएँ एवं मूल भाव आदि वे सब भावात्मक प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं जो कि व्युत्पन्न भाव एवं अनुभूतियों से अधिक स्थिर एवं गंभीर हैं। अस्तु, जहाँ रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत स्थिरता की दृष्टि से सारे भावों को दो ही कोटियों—स्थायी और संचारी—में बाँटा गया है, वहाँ आधुनिक मनोविज्ञान उसे सामान्यतः आठ स्तरों में विभाजित करता है, जिनमें से प्रथम ६ स्तर रस-सिद्धान्त के स्थायी भाव में समाविष्ट हो जाते हैं जब कि शेष दो संचारी में। इसे तालिका रूप में देखिये—

### भावात्मक प्रवृत्तियों के विभिन्न स्तर-भेद

| रस-सिद्धान्त के अनुसार | आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार                                                                                                                                      |
|------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| १. स्थायी भाव          | १—सहज प्रवृत्तियाँ (Instincts)<br>२—चारित्रिक वृत्तियाँ<br>३—भावनाएँ (Sentiments)<br>४—भावात्मक दृष्टिकोण<br>५—भाव दशाएँ (Moods)<br>६—मूल भाव (Primary emotions) |
| २. संचारी भाव          | ७—व्युत्पन्न भाव (Derived emotions)<br>८—अनुभूतियाँ (Feelings)                                                                                                   |

## ५.६. भावात्मक प्रवृत्तियों के भेदोपभेद—

उपर्युक्त तालिका के अनुसार स्थायीभावों के अन्तर्गत सहज प्रवृत्तियों से लेकर मूल भावों तक सभी भावात्मक प्रवृत्तियों को स्थान दिया जा सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी समस्या यह है कि इन भावात्मक प्रवृत्तियों के भेदोपभेदों के सम्बन्ध में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों में परस्पर मतैक्य एवं समन्वय नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि हम निजी दृष्टिकोण से विचार करते हुए इनके भेदोपभेदों का निर्धारण करें।

### (क) सहज प्रवृत्तियों के भेदोपभेद .

यद्यपि प्रायः सभी मनोवैज्ञानिकों ने सहज प्रवृत्तियों को ही हमारी समस्त भावात्मक प्रवृत्तियों के मूल आधार के रूप में स्वीकार किया है किन्तु फिर भी इनके भेदोपभेदों के सम्बन्ध में इनमें परस्पर पर्याप्त मतभेद मिलता है। श्री विलियम जेम्स ने अपने ग्रन्थ 'प्रिन्सिपल्स ऑफ साइकोलॉजी' में जहाँ इनकी संख्या २५ से भी अधिक निर्धारित की है वहाँ आगे चलकर श्री मैकडूगल महोदय ने केवल चौदह वृत्तियों को ही सहज प्रवृत्तियों के रूप में स्वीकार किया है। मैकडूगल महोदय का वर्गीकरण जेम्स महोदय के वर्गीकरण की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है, अतः इसे ही अधिक मान्यता प्राप्त है। किन्तु दूसरी ओर ए० जी० टेन्सली (Tansley) महोदय ने तथा अन्य विद्वानों ने मैकडूगल के वर्गीकरण को दोषपूर्ण भी सिद्ध किया है। वस्तुतः इस सम्बन्ध में हम स्वयं अनुभव करते हैं कि मैकडूगल के वर्गीकरण में अभी पर्याप्त संशोधन की गुंजाइश है तथा इसके लिए एक प्रयास यहाँ भी किया जा सकता है।

मैकडूगल महोदय ने निम्नांकित चौदह सहज प्रवृत्तियाँ स्वीकार की हैं<sup>१</sup>—

- १—पलायन की वृत्ति (Flight)
- २—युयुत्सा की वृत्ति (Pugnacity)
- ३—विकर्षण की वृत्ति (Repulsion)
- ४—जिज्ञासा की वृत्ति (Curiosity)
- ५—काम वृत्ति (Pairing)
- ६—संतति-पालन की वृत्ति (Parental)
- ७—आत्म-समर्पण की वृत्ति (Submission)
- ८—आत्म-गौरव (अहं) की वृत्ति (Self-assertion)
- ९—सामाजिकता की वृत्ति (Social Instinct)
- १०—संग्रह वृत्ति (Acquisition)
- ११—निर्माण की वृत्ति (Construction)

१२—हास्य की वृत्ति (Laughter)

१३—भोजनोपार्जन की वृत्ति (Food-seeking)

१४—प्रार्थना (दैत्य) की वृत्ति (Appeal)

उपर्युक्त चौदह प्रवृत्तियों में से बहुत-सी प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जो मूलतः आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति के ही विभिन्न पक्षों से सम्बन्ध रखती हैं। जिजीविषा या आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति सामान्यतः सभी प्राणियों में मिलती है, तथा इसी की प्रेरणा से हम एक ओर भोजनोपार्जन एवं जीवन के लिए आवश्यक पदार्थों के संग्रह एवं निर्माण में तथा दूसरी ओर संकट उपस्थित हो जाने पर पलायन, आत्म-दैत्य एवं प्रार्थना की वृत्तियों का अनुभव प्राप्त करते हैं। अतः इन वृत्तियों का समन्वय केवल एक ही प्रवृत्ति—आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति में किया जा सकता है।

शेष वृत्तियों में से काम संतति-पालन, एवं सामाजिकता के मूल में भी हमारी एक ही प्रवृत्ति—काम या राग की प्रवृत्ति कार्य करती है। जैसा कि विभिन्न मनोविश्लेषकों ने सिद्ध किया है—काम और संतति-पालन हमारी एक ही प्रवृत्ति के दो रूप हैं। हमारे विचार से जिस प्रकार हम दाम्पत्यजीवन से पारिवारिकता की ओर आगे बढ़ते हैं वैसे ही पारिवारिक जीवन से सामाजिकता की ओर आगे बढ़ते हैं। अतः इन तीनों को पृथक्-पृथक् प्रवृत्तियाँ न मानकर, एक ही प्रवृत्ति—काम या राग के तीन रूप मानने चाहिए। इसी प्रकार युयुत्सा एवं विकर्षण की प्रवृत्तियाँ भी मूलतः अभिन्न हैं—दोनों ही द्वेष के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित हैं। अतः मैक्डूगल महोदय के वर्गीकरण को संशोधित रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

१—आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति—

- उपभेद—(१) पलायन की वृत्ति
- (२) भोजनोपार्जन की वृत्ति
- (३) संग्रह की वृत्ति
- (४) निर्माण की वृत्ति
- (५) आत्म-समर्पण की वृत्ति
- (६) दैत्यता या प्रार्थना की वृत्ति

२—काम या राग की प्रवृत्ति—

- उपभेद—(१) काम (Sex)
- (२) संतति-पालन
- (३) सामाजिकता

३—घृणा या द्वेष की प्रवृत्ति—

- उपभेद—(१) विकर्षण
- (२) युयुत्सा

४—जिज्ञासा की प्रवृत्ति

५—हास्य की प्रवृत्ति

६—आत्मगौरव या अहं की प्रवृत्ति

इस प्रकार मैकडूगल महोदय की चौदह प्रवृत्तियों का समन्वय उपर्युक्त छह प्रवृत्तियों में ही किया जा सकता है, किन्तु फिर भी इस वर्गीकरण को सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। हमारे विचार से इसमें एक बहुत बड़ा दोष यह है कि यह किसी निश्चित आधार पर आधारित नहीं है या यों कहिए कि इन प्रवृत्तियों में परस्पर कोई तारतम्य या सूत्रबद्धता नहीं है। अन्ततः इन प्रवृत्तियों का उद्गम-स्रोत या आधार क्या है—यह इससे स्पष्ट नहीं होता। यदि आकर्षण सिद्धान्त के आधार पर विचार किया जाय तो इस सम्बन्ध में सहायता मिल सकती है।

## ५.७. आकर्षण सिद्धान्त के आधार पर सहज प्रवृत्तियों का निर्धारण—

जैसा कि आकर्षण-सिद्धान्त का पहला नियम है, जड़ और चेतन ने निवास करने वाली प्रत्येक प्रकार की शक्ति में दो प्रवृत्तियाँ—आकर्षण एवं विकर्षण—सदा विद्यमान रहती हैं। जब भी कोई शक्ति सक्रिय होती है तो उसकी ये दोनों प्रवृत्तियाँ व्यक्त होती हैं। यह नियम मानसिक शक्ति पर भी लागू होता है—उसमें आकर्षण और विकर्षण की प्रवृत्तियाँ सहज रूप में विद्यमान हैं। पर आकर्षण-शक्ति के दूसरे नियम शक्ति की त्रिगुणात्मकता के अनुसार मानसिक शक्ति की ये प्रवृत्तियाँ भी तीन-तीन अंगों में विभाजित हो जाती हैं। मानसिक शक्ति के तीन अंग हैं—१. भावना (Feeling) २. ज्ञान (Cognition) और ३. चेष्टा या क्रिया (Conation)। इस प्रकार आकर्षण-विकर्षण की प्रवृत्तियाँ इन तीन अंगों में विभक्त होकर निम्नांकित छह मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तित या विकसित हो जाती हैं—

|                             | आकर्षण    | विकर्षण  |
|-----------------------------|-----------|----------|
| १. भावना के क्षेत्र में—>   | राग       | द्वेष    |
| २. ज्ञान के क्षेत्र में —>  | जिज्ञासा  | तर्क     |
| ३. चेष्टा के क्षेत्र में —> | प्रवृत्ति | निवृत्ति |

इस प्रकार हमारी दो मूलभूत वृत्तियाँ—आकर्षण एवं विकर्षण ही—छह प्रवृत्तियों (राग, द्वेष, जिज्ञासा, तर्क, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति) में विकसित हो जाती हैं। ये प्रवृत्तियाँ भी आगे चलकर विभिन्न परिस्थितियों के संपर्क से विभिन्न मानसिक वृत्तियों, चारित्रिक गुणों एवं भावनाओं आदि के रूप में विकसित हो जाती हैं। इस पर आगे प्रकाश डाला जायगा।

**श्री मैकडूगल के वर्गीकरण से तुलना—**उपर्युक्त वर्गीकरण का मैकडूगल महोदय के वर्गीकरण से समन्वय स्थापित करने का प्रयास करें तो इन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

### आकर्षण सिद्धान्त पर आधारित श्री मैक्डगल महोदय का वर्गीकरण वर्गीकरण

|               |                                                             |
|---------------|-------------------------------------------------------------|
| १—राग →       | १. काम : उपभेद (१) काम<br>(२) संतति-पालन<br>(३) सामाजिकता । |
| २—द्वेष →     | २. द्वेष : उपभेद— (१) विकर्षण<br>(२) युयुत्सा ।             |
| ३—जिज्ञासा →  | ३. जिज्ञासा                                                 |
| ४—तर्क →      | ४. उपहास                                                    |
| ५—प्रवृत्ति → | ५. आत्मरक्षा                                                |

उपभेद—

|              |                                                                             |
|--------------|-----------------------------------------------------------------------------|
|              | (१) भोजनोपाजन<br>(२) संग्रह<br>(३) निर्माण<br>(४) अहं                       |
| ६—निवृत्ति → | ६. आत्मरक्षा की प्रवृत्ति<br>(१) पलायन<br>(२) आत्म-समर्पण<br>(३) आत्म-दैन्य |

उपर्युक्त वर्गों में से प्रथम तीन तो परस्पर भली-भाँति समन्वित हो जाते हैं, किन्तु शेष वर्गों के समन्वय के लिये यहाँ थोड़ा स्पष्टीकरण अपेक्षित है। हमने बौद्धिक क्षेत्र में आकर्षण-विकर्षण की प्रवृत्तियों के दो मूल रूप जिज्ञासा और तर्क की प्रवृत्तियों के रूप में स्वीकार किये हैं। जिज्ञासा जहाँ हमें नये तत्त्वों की ओर आकर्षित करती है वहाँ तर्क उनकी ओर विकर्षित करता है। जिज्ञासा यदि बुद्धि का स्वीकारात्मक पक्ष है तो तर्क उसका अस्वीकारात्मक पक्ष है। जहाँ जिज्ञासा की प्रवृत्ति आगे चल कर कौतूहल, आश्चर्य, विस्मय आदि भावों में व्यक्त होती है, वहाँ तर्क की प्रवृत्ति भी अरुचि, उपेक्षा और उपहास में व्यक्त होती है। जो वस्तु हमें बौद्धिक दृष्टि से असंगत एवं अस्वाभाविक प्रतीत होती है उसके प्रति हमारी अरुचि, उपेक्षा, विरक्ति एवं उपहास की वृत्तियाँ विकसित होती हैं—अतः उपहास या हास्य के मूल में भी तर्क की ही प्रवृत्ति का अस्तित्व होता है क्योंकि असंगतियों और आस्वाभाविकता का निर्णय अंततः तर्क शक्ति से ही होता है। अतः न केवल हास्य अपितु अरुचि, उपेक्षा, विरक्ति आदि सभी वृत्तियों को हम तर्क की प्रवृत्ति के ही उपभेदों में रख सकते हैं जब कि मैक्डगल महोदय ने इनमें से केवल एक का ही उल्लेख किया है।

हमारी सभी प्रकार की प्रवृत्तियों एवं निवृत्तियों के मूल में प्रायः हमारी

आत्म-रक्षा की ही प्रवृत्ति होती है । वस्तुतः जो वस्तु हमारे अनुकूल होती है उसमें प्रवृत्ति होती है और प्रतिकूल में निवृत्ति—अतः प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के दो पक्षों के रूप में ही आत्म-रक्षा सम्बन्धी प्रवृत्तियों को स्थान देना अनुचित नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा उपर्युक्त वर्गीकरण आकर्षण सिद्धान्त पर आधारित होता हुआ भी मॅकडुगल महोदय के प्रतिकूल नहीं है—यह दूसरी बात है कि यह उनके वर्गीकरण को अधिक स्पष्ट एवं सुसंगत रूप प्रदान कर देता है ।

#### ५.८. भावात्मक प्रवृत्तियों का वर्गीकरण—

जैसा कि पहले कहा जा चुका है हमारी सहज प्रवृत्तियाँ ही विभिन्न परिस्थितियों के प्रभाव एवं संस्कार से चारित्रिक वृत्तियों एवं भावनाओं के रूप में विकसित होती हुई अन्त में मूल भावों के रूप में व्यक्त होती हैं । इनमें सर्वाधिक महत्त्व भावनाओं (Sentiments) का है क्योंकि वे एक ओर तो हमारी सहज प्रवृत्तियों के चरम विकास को सूचित करती हैं तो दूसरी ओर वे ही हमारे भाव-क्षेत्र को नियंत्रित करती हैं । अतः हम यहाँ सहज प्रवृत्तियों के आधार पर ही भावनाओं का वर्गीकरण तालिका रूप में प्रस्तुत करते हैं । साथ ही विभिन्न भावनाओं से सम्बन्धित मूल भावों (Primary emotions) का भी उल्लेख तालिका में किया जा रहा है—

#### भावनाओं का वर्गीकरण

| सहज प्रवृत्तियाँ                                                             | सम्बन्धित भावनाएँ                                                                                                                                      | सम्बन्धित मूल-भाव                                   |
|------------------------------------------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------|
| १. रागमूलक प्रवृत्ति<br>उपभेद—<br>(क) काम<br>(ख) संतति-पालन<br>(ग) सामाजिकता | १. रति (प्रणय) भावना<br>२. वात्सल्य<br>३. मैत्री<br>४. भ्रातृत्व<br>५. स्नेह<br>६. भक्ति-भावना<br>७. राष्ट्र-प्रेम<br>८. विश्व-बंधुत्व<br>९. सहानुभूति | १. प्रेम<br>२. हास्य (हर्ष)<br>३. करुणा<br>४. भक्ति |
| २. द्वेष मूलक प्रवृत्ति<br>उपभेद—                                            | १. जुगुप्सा<br>२. ईर्ष्या                                                                                                                              | १. घृणा<br>२. क्रोध                                 |

|                                                                                                                                                               |                                                                                                                                     |                                     |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-------------------------------------|
| (क) विकर्षण<br>(ख) युयुत्सा                                                                                                                                   | ३. द्वेष<br>४. प्रतिशोध की भावना<br>५. विद्रोह की भावना                                                                             |                                     |
| ३. जिज्ञासा मूलक प्रवृत्ति                                                                                                                                    | १. कौतूहल<br>२. औत्सुक्य<br>३. विस्मय                                                                                               | १. आश्चर्य                          |
| ४. तर्क मूलक प्रवृत्ति                                                                                                                                        | १. चिन्ता<br>२. वैराग्य<br>३. उपेक्षा                                                                                               | १. निर्वेद                          |
| ५. प्रवृत्ति मूलक या चेष्टा मूलक उपभेद—<br>(क) भोजनोपार्जन<br>(ख) संग्रह<br>(ग) स्व-स्थापन<br>(घ) रचना<br>(ङ) क्रीड़ा की प्रवृत्ति<br>(च) अनुकरण की प्रवृत्ति | १. आत्म-रक्षा की भावना<br>२. अधिकार की भावना<br>३. कर्त्तव्य-पालन की भावना<br>४. प्रतिस्पर्द्धा की भावना<br>५. आत्म-सम्मान की भावना | १. उत्साह                           |
| ६. निवृत्ति मूलक<br>(क) पलायन<br>(ख) आत्मदैन्य<br>(ग) आत्म-समर्पण                                                                                             | १. भीष्टता की भावना<br>२. दैन्यता की भावना<br>३. दीनता की भावना<br>४. चाटुकारिता की भावना                                           | १. भय (संकोच, लज्जा, आशंका समन्वित) |

### ५.६. रस-संख्या पर पुनर्विचार—

पीछे हमने स्थायीभाव और रसों की संख्या के प्रश्न को उठाया था, तथा उसी के समाधान के लिए यहाँ विभिन्न भावात्मक प्रवृत्तियों का अध्ययन एवं वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। अब हम इस वर्गीकरण के आधार पर रस-संख्या के प्रश्न पर अधिक स्पष्टतापूर्वक विचार कर सकते हैं। इस वर्गीकरण के अनुसार सहजप्रवृत्तियों की संख्या ६, भावनाओं की ३० एवं मूल भावों की १० निश्चित होती हैं। भाव-

प्रधान साहित्य के वर्गीकरण के लिए प्रवृत्तियों, भावनाओं एवं भावों में से किसी को भी आधार बनाया जा सकता है ; यदि हम वर्गीकरण को अधिक संकुचित रूप देना चाहें तो सहज प्रवृत्तियों का आधार ठीक है जबकि अधिक व्यापक रूप देने के लिए भावनाओं का आधार उपयुक्त है । रसवादी आचार्यों ने बीच का रास्ता अपनाया है—उन्होंने इन दोनों के स्थान पर मुख्यतः मूल भावों के ही आधार पर वर्गीकरण किया है । पर तालिका में प्रस्तुत मूल भावों की सूची से रस-सिद्धान्त की सूची में थोड़ा अंतर मिलता है । तालिका के सात भाव—घृणा, क्रोध, आश्चर्य, निर्वेद, हास्य, उत्साह एवं भय तो रस-सिद्धान्त के स्थायीभावों के सर्वथा अनुकूल हैं किन्तु प्रेम, करुणा और स्नेह में अन्तर मिलता है । रस-सिद्धान्त में प्रेम के स्थान पर रति और करुणा के स्थान पर शोक दिया गया है, जो ठीक नहीं । जैसा कि तालिका में स्पष्ट किया गया है, प्रेम के क्षेत्र में केवल दंपतियों की रति भावना ही नहीं और भी विभिन्न प्रकार की प्रणय भावनाएँ आती हैं ; जैसे वात्सल्य, मैत्री, भ्रातृत्व, भक्ति, राष्ट्र-प्रेम एवं विश्व-बन्धुत्व आदि । परवर्ती आचार्यों ने वात्सल्य और भक्ति को भी स्वतन्त्र स्थायी-भाव मान कर इस न्यूनता को पूरी करने का प्रयास किया है, किन्तु फिर भी मैत्री, भ्रातृत्व आदि अनेक भावनाएँ अवशिष्ट रहती हैं । यहाँ प्रश्न है, क्या इन भावनाओं का स्वतन्त्र रूप से काव्य में कोई स्थान नहीं है ? हमारे विचार से ऐसा नहीं है । नरोत्तम के 'सुदामा-चरित' में तथा शेक्सपियर के 'दी मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' में मैत्री भावना का चित्रण स्वतन्त्र रूप में हुआ है । इसी प्रकार 'राम-भरत-मिलाप' में भ्रातृत्व भावना का विकास समुचित रूप में मिलता है । ऐसी स्थिति में हम मैत्री एवं भ्रातृत्व को स्वतन्त्र स्थायीभाव मानते हुए क्यों न क्रमशः सख्य एवं स्नेह (या भ्रातृत्व) रस की सत्ता स्वीकार करें ? कदाचित् इसके विरोध में यह कहा जाय कि इन भावनाओं का चित्रण थोड़ी ही रचनाओं में मिलता है तो यह तर्क रौद्र, भयानक बीभत्स आदि रसों के भी विपक्ष में दिया जा सकता है । वस्तुतः यहाँ सवाल किसी रस के कम या अधिक मिलने का नहीं है, अपितु उनके अस्तित्व का है । कुछ लोग इन भावनाओं को शृंगार रस से सम्बद्ध करने का प्रस्ताव भी कर सकते हैं, किन्तु वह भी स्वीकार्य नहीं होगा, क्योंकि शृंगार रस में भिन्न-लैंगिक व्यक्तियों की काम समन्वित प्रणय भावना का ही समावेश होता है, मैत्री, भ्रातृत्व एवं विश्व-बन्धुत्व जैसी परिष्कृत भावनाओं से उसका कोई मेल नहीं है । संभवतः इसी तथ्य को हृदयंगम करते हुए अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी शृंगार रस के अतिरिक्त प्रेयान् (रुद्रट), स्नेह (अभिनव गुप्त), प्रेम (काका कालेलकर) आदि नये रसों की स्थापना का प्रयास किया है । यदि हम इन नये रसों को स्वीकार कर लें तो प्रेम भाव के विभिन्न रूपों से सम्बन्धित रसों की संख्या ६ तक पहुँच जायगी—१. शृंगार २. भक्ति ३. वात्सल्य ४. प्रेम ५. प्रेयान् ६. स्नेह । पर इनमें भी मैत्री, भ्रातृत्व, राष्ट्र-प्रेम एवं विश्व-बन्धुत्व की भावना का समावेश प्रत्यक्ष रूप में नहीं होता । यदि इन चारों

को भी स्वतन्त्र रूप में मान्यता दी जाय तो इन रागात्मक रसों की संख्या १० हो जायगी। किन्तु आलोचनात्मक दृष्टि से छान-बीन की जाय तो इनमें से भी कुछ रसों को कम किया जा सकता है; उदाहरण के लिए प्रेम और प्रेयान् एक ही है, इसी प्रकार राष्ट्र-प्रेम और विश्व-बंधुत्व की भावनाओं का भी प्रतिनिधित्व प्रेम शब्द से हो जाता है क्योंकि इनमें प्रेम के क्षेत्र का ही अन्तर है, उसकी मूलभूत प्रवृत्ति का नहीं। भ्रातृत्व, राष्ट्र-प्रेम एवं विश्व-बंधुत्व—ये तीनों भावनाएँ हमारी सामाजिकता की प्रवृत्ति से सम्बन्धित हैं तथा तीनों एक ही भावना के उत्तरोत्तर विकास को सूचित करने वाले तीन प्रतिमान हैं। अतः इस दृष्टि से प्रेम, प्रेयान्, भ्रातृत्व, राष्ट्र-प्रेम और विश्व-बंधुत्व—इन पाँचों भावनाओं का समन्वय अकेले 'प्रेम भाव' में किया जा सकता है। शेष पाँच भावों—रति, वात्सल्य, भक्ति, स्नेह और मैत्री—को हमें स्वतन्त्र रूप में मान्यता देनी होगी और इस प्रकार राग सम्बन्धी ६ भेद माने जा सकते हैं।

रस-सिद्धान्त के शोक और हमारी तालिका के कर्ण में भी मुख्यतः नाम का ही अन्तर है, क्योंकि अन्ततः रसवादी आचार्य भी शोक से सम्बन्धित रस को 'कर्ण रस' का नाम देकर 'कर्ण' के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है—कर्ण रस का आलम्बन प्रायः शोक ग्रस्त व्यक्ति होता है, इसी से यह भ्रान्ति हुई है, अन्यथा कर्ण रस का सम्बन्ध सहानुभूति की भावना एवं कर्णा के भाव से है।

रस-सिद्धान्त के बीभत्स एवं रौद्र रस के स्थायीभावों—घृणा और क्रोध को भी हम उमी रूप में मान्यता दे सकते हैं किन्तु एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए। जहाँ बीभत्स में जुगुप्सा की भावना के सभी रूप—वैयक्तिक या सामाजिक, आ जाते हैं वहाँ रौद्र रस में ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध, विद्रोह आदि सभी भावनाओं को स्थान मिलना चाहिए। ये भावनाएँ मूल प्रकृति की दृष्टि से परस्पर भिन्न नहीं हैं—केवल भावदशा के विकास के ही विभिन्न स्तरों एवं क्षेत्रों को सूचित करती हैं, इसी लिए इनका स्वतन्त्र अस्तित्व मानने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार आश्चर्य भाव से सम्बन्धित अद्भुत रस में भी जिज्ञासा, कौतूहल, विस्मय आदि सभी भावनाओं को स्थान दिया जाना चाहिए।

वीर और भयानक रस के क्षेत्र को भी आज कल बहुत संकीर्ण कर दिया गया है। प्राचीन आचार्यों ने वीर रस के अनेक भेद—धर्मवीर, युद्धवीर, दानवीर, दयावीर करते हुए इसके एक ऐसे व्यापक रूप की प्रतिष्ठा की थी जिसमें आत्मरक्षा की भावना अधिकार की भावना, कर्त्तव्य-पालन की भावना, प्रतिस्पर्द्धा की भावना—आदि का समावेश हो जाता है। वस्तुतः हमें अब भी वीर रस को इसी व्यापक रूप में ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार भीरता, दैन्यता, हीनता, चाटुकारिता आदि की भावनाओं को चित्रित करने वाले साहित्य को भय स्थायीभाव के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

शेष दो रसों—निर्वेद और हास्य को हम भाव-प्रधान नहीं मानते। इनमें विचार या तर्क की प्रधानता होती है, भाव उसकी अपेक्षा गौण रहता है—अतः इसकी चर्चा विचार-प्रधान साहित्य के प्रसंग में ही की जानी चाहिए। यहाँ यह ध्यान रहे कि निर्वेद और हास्य अन्य भावों के संचारीरूप में भी आते हैं, वहाँ विचार गौण होता है ; किन्तु जहाँ ये स्थायी रूप में आते हैं वहाँ निश्चित ही कोई विचार या बौद्धिक तथ्य या कोई बौद्धिक समस्या इनके मूल में होती है। इसका अधिक स्पष्टीकरण अन्यत्र किया जायगा, यहाँ हम केवल रस-सिद्धान्त की दृष्टि से इनका उल्लेख करना ही पर्याप्त समझते हैं।

### ५.१०. रस-संख्या-वृद्धि के अवशिष्ट प्रस्ताव—

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार कुल तेरह रसों—रति, वात्सल्य, स्नेह, भक्ति, मैत्री (सख्य), प्रेम, करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक, निर्वेद (शान्त) और हास्य—को मान्यता दी जा सकती है। इससे रस-संख्या-वृद्धि के अनेक प्रस्तावों (जिनकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है) को स्वीकृति मिल जाती है, किन्तु फिर भी कुछ प्रस्ताव अमान्य ठहरते हैं। वे ये हैं—(१) उदात्त (२) उद्धत (३) लौल्य (४) माया (५) कार्पण्य (६) प्रक्षोभ (७) क्रान्ति (८) विषाद (९) ब्राह्म (१०) संयोग (११) विप्रलम्भ। इन तत्त्वों को हम स्वतंत्र स्थायीभाव या रस के अनुपयुक्त मानते हैं क्योंकि इनमें से कुछ तत्त्व तो ऐसे हैं जिन्हें किसी स्वतन्त्र भावना के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, जैसे—उदात्त, उद्धत, ब्राह्म आदि। उदात्त, आलम्बन का वह गुण है जिससे दृष्टा में औदात्य की अनुभूति का संचार होता है। यह औदात्य की अनुभूति बुद्धि-प्रेरित होती है तथा शान्त रस की अनुभूति से यह अलग नहीं है। शान्त रस और औदात्य की एकता का स्पष्टीकरण आगे हम विचार-प्रधान साहित्य का विवेचन करते समय करेंगे। इसी प्रकार 'उद्धत' भी केवल चारित्रिक प्रवृत्ति है, जिसका विकास चंचलता या चांचल्य भाव के रूप में होता है। यह चांचल्य भाव कोई स्वतंत्र स्थायीभाव न होकर शृंगार, रौद्र, भयानक आदि का संचारी भाव है। ब्राह्म से तात्पर्य यदि ब्रह्म की अनुभूति से है तो इसका भी समन्वय शान्त रस में किया जा सकता है। इसी प्रकार कार्पण्य का भय में, प्रक्षोभ और विषाद का करुण में, संभोग और विप्रलम्भ का शृंगार में समन्वय हो जाता है। क्रान्ति का सम्बन्ध भी विद्रोह की भावना से है, अतः इसका भी समन्वय रौद्र रस में हो जाता है। लौल्य या लोभ एक चारित्रिक प्रवृत्ति मात्र है तथा माया के अन्तर्गत सभी प्रकार लौकिक आकर्षण आ जाते हैं—अतः ये भी अन्य रागात्मक भावों से पृथक् सत्ता नहीं रखते। अस्तु, इन सभी का समन्वय पूर्ववर्ती १३ रसों में हो जाता है, इनकी पृथक् सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं।

## ५.११. रस-संख्या-संकोच के प्रस्ताव—

जहाँ कुछ विद्वान रस संख्या में विस्तार करना चाहते हैं, वहाँ कुछ उसे संकुचित भी कर देना चाहते हैं। विभिन्न विद्वानों ने केवल शृंगार या करुण या अद्भुत में ही शेष सभी रसों का अन्तर्भाव सिद्ध कर देने का प्रयास किया है। हमारे विचार से किसी एक रस में ही शेष सभी का अन्तर्भाव कर देने से उस रस की महत्ता में तो अभिवृद्धि हो जाती है, किन्तु इस प्रकार के प्रयास को तर्क-संगत नहीं कहा जा सकता। यदि हम रसों के वर्गीकरण को संकुचित या संक्षिप्त रूप देना चाहते हैं तो इसके लिए अधिक उचित यह है कि हम उनके मूलाधारों या सहज प्रवृत्तियों के आधार पर इसे प्रतिष्ठित करें—उस स्थिति में सहज प्रवृत्तियों की संख्या के अनुसार रसों के ६ भेद ही रखे जा सकते हैं। यदि हम इस संख्या को और भी अधिक कम करना चाहें तो सभी सहज प्रवृत्तियों के तीन क्षेत्रों—अनुभूति, विचार, क्रिया—के आधार पर इनके तीन ही भेद—अनुभूति-प्रधान, विचार-प्रधान एवं क्रिया-प्रधान किये जा सकते हैं। या चाहें तो सहज प्रवृत्तियों को दो मूल भूत रूपों—आकर्षण और विकर्षण के आधार पर भी उनके केवल दो भेद किये जा सकते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र में काण्ट आदि अनेक विचारकों ने सभी कलाओं में दो तत्त्वों—सौन्दर्य और उदात्त का ही अस्तित्व माना है तथा ये दोनों तत्त्व क्रमशः आकर्षण और विकर्षण से ही सम्बन्धित हैं। अतः रस-संख्या को अत्यधिक संकुचित करने के लिए केवल दो ही प्रमुख रस—आकर्षण एवं विकर्षण—या सौन्दर्य और औदात्य ही स्वीकार किये जा सकते हैं तथा शेष रसों को उन्हीं के उपभेदों के रूप में स्थान दिया जा सकता है।

## ५.१२. आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार वर्गीकरण—

आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार हमने पीछे सभी भावात्मक प्रवृत्तियों के दो मूल भेद—आकर्षण एवं विकर्षण—करते हुए मानसिक प्रवृत्तियों के आधार पर प्रत्येक के तीन-तीन उपभेद किये हैं। (देखिये-तालिका) इस प्रकार कुल छह प्रमुख प्रवृत्तियाँ बनती हैं जिनके आधार पर भाव-प्रधान साहित्य के भी छह प्रमुख भेद इस प्रकार किये जा सकते हैं—

१—आकर्षण मूलक भाव-प्रधान—

तीन उपभेद—(१) रागमूलक भाव-प्रधान

(२) जिज्ञासा मूलक भाव-प्रधान

(३) प्रवृत्ति मूलक भाव-प्रधान

२—विकर्षण मूलक भाव-प्रधान—

तीन उपभेद—(४) द्वेष मूलक भाव-प्रधान

(५) तर्क मूलक भाव-प्रधान

(६) निवृत्ति मूलक भाव-प्रधान

उपर्युक्त ६ वर्गों से सम्बन्धित सहज प्रवृत्तियों, भावनाओं एवं भावों का निर्देश पीछे तालिका में किया जा चुका है अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अनपेक्षित है।

## ५.१३. भाव-प्रधान साहित्य और आकर्षण-शक्ति—

जैसा कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम खंड में आकर्षण-शक्ति के स्वरूप की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया गया है, काव्यगत आकर्षण-शक्ति का सम्बन्ध हमारी मानसिक शक्तियों से है या यों कहिए की काव्यगत आकर्षण शक्ति मानसिक स्तर पर ऐन्द्रिक आकर्षण, भावात्मक आकर्षण एवं बौद्धिक आकर्षण के रूप में कार्य करती है। इन तीनों प्रकार की आकर्षण शक्तियों में से भाव-प्रधान साहित्य का सम्बन्ध मुख्यतः भावात्मक आकर्षण से है। इस भावात्मक आकर्षण की पुष्टि के लिए भाव-प्रधान साहित्य में ऐन्द्रिक एवं बौद्धिक स्तर के आकर्षण का भी प्रादुर्भाव कहीं-कहीं हो सकता है किन्तु ऐसा गौण रूप में ही होगा। जहाँ किसी भाव-प्रधान साहित्य में ऐन्द्रिक आकर्षण या बौद्धिक आकर्षण भावात्मक आकर्षण की पुष्टि में योग न देकर स्वयं प्रमुख होने लगता है, वहाँ उसे या तो भाव-प्रधान साहित्य नहीं कहा जा सकता या उसे भावात्मक आकर्षण की दृष्टि से दोष मानना होगा। उदाहरण के लिए जब एक कवि प्रेम का चित्रण करते समय कामुकतापूर्ण चेष्टाओं एवं रति-श्रीड़ाओं का ऐसा वर्णन प्रस्तुत करता है कि जिससे पाठकों के मन में भावात्मक आकर्षण उत्पन्न होने के स्थान पर वासनात्मक उत्तेजना (ऐन्द्रिक आकर्षण) होने लगती है तो इसे हम भाव-प्रधान साहित्य की दृष्टि से त्रुटि मानेंगे। अस्तु, भाव-प्रधान साहित्य का अनुशीलन करते समय हमें भावात्मक आकर्षण एवं ऐन्द्रिक आकर्षण के अन्तर को ध्यान में रखना चाहिए, अन्यथा हम भावात्मक आकर्षण की सही व्याख्या प्रस्तुत करने में सफल न हो सकेंगे।

जहाँ तक भाव-प्रधान साहित्य से प्राप्त होने वाली अनुभूति के विश्लेषण की बात है—इसकी थोड़ी चर्चा हम पीछे आकर्षण शक्ति के प्रसंग में कर चुके हैं, तथा इसकी विस्तृत चर्चा साहित्य के आस्वादन पक्ष की व्याख्या करते समय अन्य पुस्तक में की जायगी, किन्तु यहाँ हम संक्षेप में इतना ही संकेत कर देना चाहते हैं कि भाव-प्रधान साहित्य से पाठकों को मूल भावों की या लौकिक भावों की अनुभूति नहीं होती अपितु उन्हें भावात्मक आकर्षण की अनुभूति होती है। किन्तु यह भावात्मक आकर्षण की अनुभूति सामान्य भावों की अनुभूति से सर्वथा भिन्न भी नहीं है—यह केवल उसका परिष्कृत एवं परिवर्तित रूप है। लौकिक क्षेत्र में हमारा आकर्षण अहं ज्ञान्य राग-द्वेष से ग्रसित हो जाता है जिससे उसका मूल स्वाद विकृत हो जाता है जब कि साहित्यानुभूति के समय हमारी भावानुभूति इस अहं से मुक्त हो जाती है—अतः

## ६

### विचार-तत्त्व :

#### मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक व्याख्या



साहित्य के द्रव्य का विश्लेषण करते हुए उसके प्रथम तत्त्व-भाव—का विवेचन पीछे किया जा चुका है। अब यहाँ उसके दूसरे तत्त्व—विचार—का विवेचन क्रमशः मनोवैज्ञानिक, तर्क-शास्त्रीय एवं साहित्यिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया जाता है।

(क) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

#### ६.१. 'विचार' : शब्दार्थ—

'विचार' की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने में पूर्व हमें उसका शब्दार्थ स्पष्ट कर लेना चाहिए। शब्दकोष के अनुसार 'विचार' के अनेक अर्थ होते हैं—(१) मन में सोचा हुआ या सोच कर निश्चित किया हुआ तत्त्व (२) मन में उत्पन्न होने वाली बात (३) किसी बात के सब अंगों को देखना-परखना। (४) परीक्षा (५) जाँच।<sup>१</sup> ये अर्थ विचार संज्ञा से सम्बन्धित हैं, किन्तु इसका प्रयोग क्रिया के रूप में भी होता है—जैसे, विचारना या विचार करना। क्रिया के रूप में इसके मुख्यतः ये अर्थ स्वीकार किये जाते हैं—सोचना, पूछना, ढूँढना, पता लगाना, निर्णय करना आदि।<sup>२</sup> वस्तुतः 'विचार' संज्ञा और 'विचार' क्रिया में अर्थ की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है; एक ओर 'विचार' बुद्धि के द्वारा उपलब्ध या गृहीत विशेष मानसिक तत्त्वों का नाम है तो दूसरी ओर उन तत्त्वों की उपलब्धि के लिए जो बौद्धिक क्रिया की जाती है—वही विचारना या विचार करना है। 'विचार' के अंग्रेजी पर्याय 'थिंकिंग' (Thinking) और थॉट (Thought) से भी यह प्रमाणित होता है कि 'थिंकिंग' (विचार-क्रिया)

---

१. प्रामाणिक शब्द-कोष।

२. वही।

द्वारा उपलब्ध तत्त्व ही थॉट (विचार) हैं। अतः यदि विचार तत्त्व का विश्लेषण करने के लिए मनोविज्ञान की विचार-प्रक्रिया (Thinking) को आधार रूप में ग्रहण किया जाय तो अनुचित नहीं होगा।

## ६.२. विचार : परिभाषा और लक्षण—

मनोवैज्ञानिकों ने विचार की परिभाषा करते हुए लिखा है—“विचार मन की वह प्रक्रिया है जिसमें हम पुराने अनुभव को वर्तमान समस्याओं के हल करने में काम लाते हैं।”<sup>३</sup> इस दृष्टि से विचार एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जिसका उपयोग किसी समस्या के समाधान में होता है। इस प्रक्रिया को भी अनेक भागों में विभाजित किया गया है। श्री बुडवर्थ महोदय ने विचार की प्रक्रिया को पाँच अंगों में विभाजित किया है<sup>४</sup>—(१) किसी लक्ष्य (या समस्या) की ओर उन्मुख होना। (२) लक्ष्य प्राप्ति के लिए इधर-उधर मार्ग ढूँढना (३) पूर्व निरीक्षित तथ्यों या अनुभवों का स्मरण (४) स्मृत तथ्यों या अनुभवों का नई परिस्थिति के अनुसार उपयोग और (५) आन्तरिक भाषण एवं मुद्राएँ। सामान्यतः विचार की प्रक्रिया के अंतर्गत उपर्युक्त सभी अंगों का सन्निवेश होता है—यह दूसरी बात है कि यह सन्निवेश कई बार इतने सूक्ष्म रूप में होता है कि हम स्थूल दृष्टि से उनका अनुभव नहीं कर पाते।

मनोवैज्ञानिकों ने विचार के कुछ सामान्य लक्षण भी निर्धारित किये हैं, जिनमें से कुछ ये हैं<sup>५</sup>—

(१) विचार का सदा किसी न किसी समस्या, लक्ष्य या उद्देश्य से सम्बन्ध रहता है। समस्या-समाधान, लक्ष्य-प्राप्ति या उद्देश्य-पूर्ति के निमित्त किया गया चिन्तन ही वस्तुतः विचार होता है अन्यथा वह कल्पना मात्र रह जाता है।

(२) विचार के सामान्यतः दो प्रकार के लक्ष्य होते हैं—नये सत्यों का अनुसंधान और नयी योजना का आविष्कार। नये सत्यों का अनुसंधान किसी सैद्धांतिक समस्या के समाधान के लिए होता है जब कि नयी योजनाओं का आविष्कार मुख्यतः किसी व्यावहारिक समस्या के हल के लिए होता है। इसी आधार पर तर्क-शास्त्र के दो भेद हो जाते हैं—(१) आगमनात्मक—जिसमें व्यावहारिक तथ्यों के आधार पर सिद्धान्त की स्थापना होती है। (२) निगमनात्मक—सिद्धान्त के आधार पर व्यावहारिक तथ्यों की व्याख्या।

(३) विचार में सदा पूर्व अनुभवों एवं पूर्व उपलब्ध ज्ञान का उपयोग नये रूप में होता है। अतः पूर्व उपलब्ध अनुभव एवं ज्ञान के अभाव में भी विचार नहीं हो पाता।

३. सरल मनोविज्ञान : लालजी शुक्ल १९५६, पृ० २३८।

४. मनोविज्ञान : जदुनाथ सिन्हा १९६०, पृ० २१३।

५. वही, पृ० २१४-२१५।

(४) विचार सदा स्थूल से सूक्ष्म की ओर या मूर्त से अमूर्त की ओर गतिशील होता है। वह स्थूल पदार्थों एवं वस्तुओं के सम्बन्ध में—स्वयं उन वस्तुओं के माध्यम से नहीं, अपितु सूक्ष्म संकेत-चिन्हों या शब्दों के माध्यम से निष्कर्ष प्रस्तुत करता है।

### ६.३. विचार के स्तर-भेद—

स्थूल रूप से हम प्रत्येक प्रकार के ज्ञान को—चाहे वह प्रत्यक्ष-बोध पर आधारित हो या सुनी-सुनाई हुई बातों के आधार पर विकसित हो—विचार कहते हैं ; किन्तु इस प्रकार के सामान्य विचार और शुद्ध विचार में बहुत अन्तर है। इस दृष्टि से विचार के तीन स्तर-भेद किये जा सकते हैं<sup>६</sup>—(१) प्रत्यक्षात्मक विचार (२) कल्पनात्मक विचार और (३) प्रत्ययात्मक विचार। प्रत्यक्षात्मक विचार सबसे नीचे स्तर का विचार है जो कि प्रत्यक्ष-बोध पर आधारित होता है। इसमें वस्तु की अनुभूति की मात्रा अधिक होती है। कल्पनात्मक विचार में कल्पना का अंश अधिक होता है। जब कि प्रत्ययात्मक विचार में अनुभूति और कल्पना का अंश अत्यन्त न्यून हो जाता है तथा इनके स्थान पर प्रत्ययों का प्रयोग अधिक होता है। इस प्रकार विचार का सर्वोच्च स्तर और उसका शुद्ध रूप प्रत्ययों में ही निहित है—अतः आगे प्रत्ययों के स्वरूप पर और अधिक प्रकाश डाला जायगा।

### ६.४. प्रत्यय : स्वरूप एवं भेद—

सामान्यतः एक ही प्रकार की अनेक वस्तुओं या उनके विशेष गुणों के बोध कराने वाले शब्दों को प्रत्यय (Conception) कहा जाता है। इनसे विशिष्ट के स्थान पर सामान्य का तथा स्थूल विशेषताओं के स्थान पर सूक्ष्म गुणों का बोध होता है—इसी लिए हमारी भाषा की सभी जातिवाचक एवं भाववाचक संज्ञाएँ प्रत्यय मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य, प्राणी, जीवन, भलाई, वीरता आदि शब्द प्रत्यय कहे जा सकते हैं।

प्रत्ययों के भी दो भेद किये जाते हैं<sup>७</sup>—प्रथम प्रकार के प्रत्यय वे हैं जो कि इन्द्रियगोचर पदार्थों के बोधक होते हैं—जैसे, जानवर, रंग, मकान आदि। दूसरे प्रकार के प्रत्यय भाववाचक होते हैं। इन्हें क्रमशः जातिवाचक एवं भाववाचक प्रत्यय कह सकते हैं।

### ६.५. प्रत्यय-ज्ञान की उपलब्धि—

मनुष्य को प्रत्यय-ज्ञान की उपलब्धि सर्व प्रथम चिन्तन की प्रक्रिया के माध्यम

६. सरल मनोविज्ञान : लालजी शुक्ल, पृ० २४२।

७. वही, पृ० २४३।

से होती है—यह दूसरी बात है कि एक व्यक्ति के द्वारा उपलब्ध प्रत्ययों का ज्ञान दूसरा व्यक्ति उन्हें पढ़-सुनकर प्राप्त कर लेता है। इस चिन्तन की प्रक्रिया के भी मुख्यतः चार अवयव माने गये हैं—(१) पदार्थों या विषयों की अनुभूति (२) अनुभूति के आधार पर विषय के गुणों का विश्लेषण (३) विषय के गुण-धर्मों की तुलना के आधार पर उनका वर्गीकरण (४) वर्गीकृत विषयों का संश्लेषण एवं सामान्यीकरण तथा सामान्य गुणों का नामकरण। इस प्रकार अनुभूति के विश्लेषण, वर्गीकरण, संश्लेषण व सामान्यीकरण के माध्यम से प्रत्ययों की उपलब्धि होती है।

प्रत्ययों की भाँति ही प्रत्ययों के आधार पर व्यापक निष्कर्षों, सिद्धान्तों एवं सत्य-ज्ञान की उपलब्धि होती है। विभिन्न प्रत्ययों से विभिन्न निष्कर्षों की, विभिन्न निष्कर्षों से विभिन्न सिद्धान्तों की तथा विभिन्न सिद्धान्तों से विभिन्न सत्यों की उपलब्धि भी विश्लेषण, वर्गीकरण एवं संश्लेषण की उपर्युक्त पद्धति के माध्यम से होती है। वस्तुतः इन निष्कर्षों, सिद्धान्तों, एवं सत्यों को प्रत्ययों के ही विकसित रूप मान सकते हैं तथा प्रत्यय-ज्ञान से लेकर सत्यानुसंधान तक के सभी अवयवों को हम शुद्ध विचार के अन्तर्गत स्थान दे सकते हैं।

## ६.६. विचार और भाव में अंतर—

विचार (या शुद्ध विचार) के उपर्युक्त स्वरूप को ध्यान में रखते हुए उसका भाव से अंतर स्पष्ट किया जा सकता है। विचार और भाव में सब से पहला अंतर तो दोनों से सम्बन्धित मानसिक प्रक्रियाओं का अंतर है। हमारी समस्त मानसिक प्रक्रियाओं को मनोविज्ञान के अनुसार तीन स्थूल पक्षों में विभाजित किया जाता है— ज्ञानात्मक (Cognitive), वेदनात्मक (Affective) और चेष्टात्मक (Conative)। इनमें से विचार का सम्बन्ध हमारी चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष से है जब कि भाव का वेदनात्मक पक्ष से। दूसरे, विचार प्रत्यक्ष-बोध या अनुभूति का अध्ययन एवं विश्लेषण करके आगे बढ़ जाता है जब कि भाव प्रत्यक्ष-बोध एवं अनुभूतियों का आस्वादन करता हुआ उन्हीं में रम जाता है। विचार का सम्बन्ध विषय-वस्तु के अप्रत्यक्ष रूप से या उसके सांकेतिक चिन्हों एवं प्रतीकों से अधिक रहता है जब कि भाव का विषय-वस्तु से सीधा सम्बन्ध रहता है। तीसरे, विचार में वस्तुओं के रूप-गुणों को खंड-खंड रूप में ग्रहण किया जाता है जब कि भाव में सामान्यतः आलम्बन को समग्र रूप में ग्रहण किया जाता है। चौथे, विचार में विभिन्न वस्तुओं के सामान्य गुणों का उद्घाटन होता है जब कि भाव में प्रायः ऐसा कम होता है। पाँचवें, विचार का लक्ष्य समस्या का समाधान करना होता है जब कि भाव प्रायः नई समस्याएँ उत्पन्न करता है। छठे, विचार में सत्य के अनुसंधान का उद्देश्य रहता है जब कि भाव में सत्य की अपेक्षा

सुख, तृप्ति और आनन्द-प्राप्ति का लक्ष्य रहता है, यह दूसरी बात है कि कई बार सत्यानुसंधान की प्रवृत्ति भी ऐसी भावना के रूप में विकसित हो जाती है जिससे कि सत्य की उपलब्धि आनन्दोपलब्धि के तुल्य हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विचार और भाव मूलतः एक ही मस्तिष्क से सम्बद्ध होते हुए भी परस्पर विरोधी दिशाओं में अग्रसर होते हैं। किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कई बार विचार भावों से मिश्रित हो जाते हैं तथा भाव भी शमित होकर विचारों के रूप में परिणत हो जाते हैं—अतः ऐसी परिस्थितियों में विचार और भाव अपने-अपने शुद्ध रूप में न रहकर एक दूसरे के पूरक और सहायक बन जाते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को जब गंदी वस्तु से घृणा की अनुभूति होती है तो वह आगे चलकर इस विचार का विकास कर सकता है कि 'गंदी वस्तु घृणित होती है।'—तो दूसरी ओर अपने इसी विचार के कारण वह प्रत्येक गंदी वस्तु को दूर से देखकर ही—भले ही उसका प्रत्यक्ष प्रभाव न उत्पन्न हुआ हो—घृणा की अनुभूति कर सकता है। इस प्रकार व्यावहारिक क्षेत्र में विचार भावों से तथा भाव विचारों से मिश्रित रहते हैं, जिन्हें मनोविज्ञान की शब्दावली में 'दृष्टिकोण' (Attitude) या धारणा कहते हैं। अस्तु, वैयक्तिक दृष्टिकोणों और धारणाओं को विचार से पृथक् श्रेणी का मानकर ही हमें शुद्ध विचार के स्वरूप को ग्रहण करना चाहिए।

### (ख) दार्शनिक एवं तर्क-शास्त्रीय दृष्टिकोण

#### ६.७. दर्शन और तर्क शास्त्र का सम्बन्ध—

वह विषय जो मुख्यतः विचारों के सत्यासत्य के निर्णय एवं उनके सामान्यीकरण द्वारा विभिन्न सिद्धान्तों की स्थापना करता है—दर्शन-शास्त्र कहलाता है, तथा किसी विचार के औचित्य को सिद्ध करने के लिए किस पद्धति का अवलम्बन किया जाय—इसका उत्तर तर्क-शास्त्र देता है। इस प्रकार दार्शनिक विचारों को विषय-वस्तु के रूप में अपनाता है तो तर्क-शास्त्री उनके बाह्यरूप या पद्धति पर प्रकाश डालता है। इस दृष्टि से दर्शन और तर्क-शास्त्र मूलतः एक ही विषय के दो पक्ष हैं तथा दोनों का ही विचारों से गहरा सम्बन्ध है।

#### ६.८. तर्क-शास्त्र के दो पक्ष—

तर्क-शास्त्र के भी सामान्यतः दो रूप माने जाते हैं<sup>१</sup>—(१) आगमनात्मक और (२) निगमनात्मक। आगमनात्मक पद्धति के द्वारा विशिष्ट तथ्यों के आधार पर सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है, जब कि निगमनात्मक पद्धति के द्वारा

सामान्य सिद्धान्त के आधार पर विशिष्ट तथ्य की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। इस प्रकार आगमनात्मक पद्धति का उपयोग विचार के सैद्धान्तिक पक्ष की स्थापना में होता है, जब कि निगमनात्मक पद्धति उसके व्यावहारिक पक्ष की व्याख्या प्रस्तुत करती है। साहित्य के क्षेत्र में भी सैद्धान्तिक समीक्षा को आगमनात्मक कह सकते हैं तथा व्यावहारिक समीक्षा को निगमनात्मक कह सकते हैं—यह दूसरी बात है कि साहित्य-समीक्षा में तर्क-शास्त्रीय पद्धति का उपयोग सम्यक् रूप से नहीं किया जाता। नये सिद्धान्तों की स्थापना एवं मौलिक चिन्तन की दृष्टि से आगमनात्मक पद्धति का ही अधिक महत्त्व है—अतः हम आगे इसी पर अधिक विस्तार से प्रकाश डालते हैं।

### ६.६. आगमनात्मक पद्धति या सिद्धान्त-स्थापना की विधि—

कोई भी दार्शनिक या मौलिक चिन्तक किसी नये सिद्धान्त की स्थापना के लिए मुख्यतः चार प्रक्रियाओं का उपयोग करता है<sup>१०</sup>—(१) सबसे पूर्व वह अपनी स्थापना के लिए आधार भूत तथ्यों का संकलन करता है। (२) उन तथ्यों के आधार पर अनुमान या परिकल्पना (Hypothesis) प्रस्तुत करता है। (३) अनुमान या परिकल्पना के पक्ष-विपक्ष में प्रमाण और तर्क प्रस्तुत है। (४) प्रमाण और तर्कों के आधार पर वह अपने विचार को पुष्ट करके उसे निष्कर्ष, सिद्धान्त या नियम का रूप दे देता है।

इस प्रकार तर्क-शास्त्रीय पद्धति के द्वारा प्रमाण और तर्कों के आधार पर विशिष्ट तथ्य सामान्य सिद्धान्तों के रूप में परिणत किये जाते हैं।

### ६.१०. निगमनात्मक पद्धति—

इस पद्धति के द्वारा किसी विशिष्ट तथ्य, घटना या समस्या के समाधान के लिए किसी पूर्व निर्धारित सिद्धान्त या नियम का आश्रय ग्रहण किया जाता है। जिस प्रकार आगमनात्मक पद्धति द्वारा उपलब्ध निष्कर्ष सिद्धान्त कहलाते हैं, वैसे ही निगमनात्मक पद्धति द्वारा उपलब्ध निष्कर्षों को हम निर्णय कह सकते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जहाँ निर्णय सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं वहाँ सिद्धान्त भी निर्णयों की अनुकूलता से पुष्ट होते हैं। यदि कोई सिद्धान्त बार-बार अनुभवों, तथ्यों एवं निर्णयों की दृष्टि से अप्रयुक्त एवं अव्यावहारिक सिद्ध हो जाता है तो उस स्थिति में स्वयं सिद्धान्त का औचित्य भी संदिग्ध हो जाता है। अतः सिद्धान्तों की सत्यता और व्यापकता की परीक्षा अन्ततः व्यावहारिक क्षेत्र में ही होती है—जो सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से अनुपयुक्त सिद्ध हो जाते हैं, वे महत्त्वशून्य

होकर धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से निगमनात्मक पद्धति आगमनात्मक पद्धति की पूरक कही जा सकती है।

### ६.११. दार्शनिक की विचार-पद्धति की विशेषता—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दर्शन के क्षेत्र में विचारों को तर्क-पद्धति के द्वारा सिद्धान्त या निर्णय का रूप दिया जाता है। विभिन्न प्रकार के साहित्येतर विषयों—जैसे, मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, राजनीति, इतिहास आदि—में भी तथ्यों के आधार पर निर्णय या निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाते हैं। साहित्य में भी विचारों, निष्कर्षों, निर्णयों या सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया जा सकता है किन्तु उसकी पद्धति भिन्न होती है। जहाँ दर्शन और विज्ञान में सिद्धान्तों और निर्णयों की स्थापना क्रमशः तथ्यों, अनुमान, तर्क, प्रमाण आदि बौद्धिक तत्त्वों के माध्यम से की जाती है, वहाँ साहित्य में उनकी अभिव्यक्ति ऐन्द्रिक एवं भावात्मक तत्त्वों के रूप में होती है। दार्शनिक का लक्ष्य विचार को तर्क के बल पर सिद्ध कर देना होता है जबकि साहित्यकार का लक्ष्य विचार को अनुभूत करा देने का होता है। ऐसा करने के लिए साहित्यकार ऐसी पद्धति का अनुगमन करता है जो कि दार्शनिक की पद्धति से बिल्कुल उलटी होती है—जहाँ दार्शनिक पदार्थों और विषय-वस्तुओं के प्रत्यक्ष-बोध को अप्रत्यक्ष शब्द-संकेतों में, स्थूल को सूक्ष्म में, विशिष्ट को सामान्य में परिणत कर देता है वहाँ साहित्यकार सामान्य को विशिष्ट में, सूक्ष्म को स्थूल में, और अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष में प्रस्तुत करता है। दार्शनिक जिन संवेदनात्मक, प्रत्यक्ष-बोधात्मक एवं कल्पनात्मक तत्त्वों से मुक्त करके तथ्यों को सिद्धान्त का रूप देता है, साहित्यकार उन्हीं तत्त्वों को पुनः प्रयुक्त करके सिद्धान्त को अनुभूति का रूप प्रदान कर देता है। इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि जहाँ एक का कार्य अनुभूतियों को सिद्धान्तों में परिणत करना है, वहाँ दूसरे का कार्य सिद्धान्तों को अनुभूतियों के रूप में प्रस्तुत करना है ; दोनों की मूल सामग्री एक ही है किन्तु एक उसे तरल से शुष्क में परिणत करता है तो दूसरा उसे शुष्क से पुनः तरल में परिणत करता है।



## ७

### विचार-तत्त्व :

#### साहित्यिक दृष्टिकोण से विवेचन



#### ७.१. साहित्य और विचार का सम्बन्ध—

जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, विचारों का मूल क्षेत्र दर्शन शास्त्र, विज्ञान शास्त्र आदि से सम्बद्ध है, साहित्य से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं है। मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से साहित्य का सम्बन्ध हमारे मन के अनुभूति पक्ष से है, जब कि विचार का सम्बन्ध मस्तिष्क के ज्ञानात्मक (Cognitive) पक्ष से है। यद्यपि अनुभूति और विचार दोनों में ही तथ्यों को आधारभूत सामग्री के रूप में स्वीकार किया जाता है किन्तु दोनों की दिशाएँ और प्रणाली परस्पर विरुद्ध है। अनुभूति में तथ्यों का संयोजन एवं सम्मिश्रण किया जाता है जब कि विचार में उनका विश्लेषण एवं पृथक्कीकरण किया जाता है। तथ्यों को अनुभूतिगम्य रूप देने के लिए उन्हें अमूर्त से मूर्त में, भाव से बिम्ब में, सामान्य से विशिष्ट रूप में प्रस्तुत किया जाता है जब कि विचार की प्रक्रिया में तथ्यों का सूक्ष्मीकरण, प्रत्ययीकरण और सामान्यीकरण किया जाता है। इसी प्रकार अनुभूति में वस्तु के समग्र रूप का बोध होता है जब कि विचार में उसे खण्ड-खण्ड रूप में ग्रहण किया जाता है, अनुभूति में उसके प्रभाव को महत्त्व दिया जाता है जब कि विचार में उसके प्रभाव से बचकर उसके मूलभूत तत्त्वों पर बल दिया जाता है। अनुभूति की दशा में व्यक्ति की निर्णय-शक्ति विचलित एवं कुंठित हो जाती है जब कि विचार की चरम परिणति ही निर्णय में होती है। अस्तु, अनुभूति और विचार का यह विरोध ही साहित्य और विचार के विरोध को स्पष्ट करता है। साहित्यकार अपने विषय को अनुभूति के रूप में प्रस्तुत करता है—तथा पाठक भी उसे पढ़कर तत्सम्बन्धी विषय की अनुभूति प्राप्त करता है। अतः साहित्य में अनुभूति से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्वों—जैसे, भाव, भावना, मनोदशा आदि को ही स्थान मिल सकता है ; विचारों को नहीं। इस दृष्टि से विचार साहित्य के लिए विजातीय द्रव्य है, जिसकी उपस्थिति उसके मूल लक्ष्य के प्रतिकूल पड़ती है।

यदि उपर्युक्त दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि साहित्य में विचार तत्त्व का कोई स्थान नहीं है—साहित्य का आधारभूत तत्त्व अनुभूति या भाव ही है। किन्तु जैसा कि मनोवैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों ने स्वीकार किया है ; जहाँ विचार और भाव परस्पर विरोधी हैं वहाँ वे एक दूसरे के पूरक या सहायक भी हैं। प्रत्येक दार्शनिक अपनी अनुभूतियों के विश्लेषण के द्वारा विचारों का विकास करता है तो दूसरी ओर हम व्यावहारिक जीवन में विचारों की अनुभूति भी प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार पानी को जम कर बर्फ का रूप दिया जाता है, और बर्फ को पिघलाकर पानी में परिणत किया जा सकता है, वैसे ही मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से—तर्क और कल्पना की सहायता से अनुभूतियों को विचारों में और विचारों को पुनः अनुभूतियों में परिणत किया जा सकता है। इसी लिए विचारक के लिए अनुभूतियाँ कच्ची सामग्री का काम देती हैं तो दूसरी ओर कल्पनाशील व्यक्तियों के लिए विचार अनुभूति के आधारभूत तत्त्व सिद्ध हो सकते हैं। वस्तुतः साहित्यकार अपने साहित्य में जिस सामग्री का उपयोग करता है वह एक मात्र उसके प्रत्यक्ष-बोध एवं स्वानुभूतियों पर ही आधारित नहीं होती—बहुत सी सामग्री ऐसी भी होती है जो उसे विभिन्न व्यक्तियों, लेखकों एवं शास्त्रों के माध्यम से विचार के रूप में प्राप्त होती है—जिसे वह अपनी अनुभूति के रूप में परिणत करके साहित्य में स्थान देता है। इस प्रकार विचारों का साहित्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होते हुए भी अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है या यों कहिए कि साहित्य में विचार अपने मूल रूप में प्रस्तुत न होकर परिवर्तित रूप में प्रस्तुत होते हैं।

## ७.२. साहित्य में प्रस्तुत विचारों का विषय-क्षेत्र—

साहित्य में सामान्यतः किसी भी विषय या शास्त्र से सम्बद्ध विचार किसी न किसी रूप में स्थान पा सकते हैं—इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। साहित्यकारों की रुचि के अनुसार विभिन्न साहित्यिक रचनाओं में विभिन्न क्षेत्रों के विचार सदा प्रयुक्त होते रहे हैं और हो सकते हैं। उदाहरणतः यहाँ हम हिन्दी साहित्य के आधार पर कुछ प्रमुख विषय-क्षेत्रों का निर्देश करते हैं—

(क) धर्म-संप्रदाय—कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, नन्ददास आदि की रचनाओं में।

(ख) दर्शन-शास्त्र—कबीर, जायसी, जयशंकर प्रसाद (कामायनी), निराला, महादेवी आदि की रचनाओं में।

(ग) नीति-शास्त्र—रहीम, बिहारी, गिरिधर, वृन्द आदि में।

(घ) काम-शास्त्र—रीतिकालीन कवियों के नायिका-भेद, शृंगार-रस ; हाव-भाव आदि के निरूपण में।

(ङ) राजनीति-शास्त्र—राहुल सांकृत्यायन, यशपाल आदि के उपन्यासों में।

(च) मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण—जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी आदि के उपन्यासों में एवं शुक्ल जी के लेखों में ।

(छ) सामाजिक समस्याएँ—प्रेमचन्द के उपन्यासों में ।

(ज) वैज्ञानिक विषय (ज्योतिष, वैद्यक आदि)—जायसी, बिहारी आदि में ।

(झ) साहित्य-शास्त्र—रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र आदि के समीक्षात्मक लेखों में ।

उपर्युक्त तालिका के निदर्शन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि किसी भी विषय से सम्बन्धित विचार साहित्य में स्थान पा सकते हैं, यह दूसरी बात है कि उन विचारों को साहित्य के उपयुक्त बनाने के लिए उन्हें परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया जाता है ।

### ७.३. साहित्य में विचारों का प्रस्तुतीकरण—

साहित्य में विचारों को ठीक उसी रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता, जिस रूप में उन्हें दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में प्रस्तुत किया जाता है । जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, दर्शन एवं विज्ञान में विचारों को तर्क एवं प्रमाण के बल पर बुद्धि-ग्राह्य बनाया जाता है जब कि साहित्य में उन्हें भाव एवं कल्पना के सहयोग से अनुभूतिगम्य बनाया जाता है । इसी भेद के कारण साहित्य और विज्ञान की विषय-प्रतिपादन शैली में बहुत अन्तर आ जाता है । साहित्य में भी विचारों के प्रतिपादन एवं प्रस्तुतीकरण की कोई एक पद्धति या विधि नहीं है, उन्हें अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है । प्रस्तुतीकरण की इन विधियों को हम मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) एक विचार का अन्य विचार के सहयोग से प्रस्तुतीकरण (२) भाव के सहयोग से प्रस्तुतीकरण (३) कल्पना के सहयोग से प्रस्तुतीकरण । यहाँ क्रमशः इन तीनों वर्गों का संक्षेप में परिचय दिया जाता है—

(१) विचार के सहयोग से प्रस्तुतीकरण—इस वर्ग में हम मुख्यतः उस प्रकार के प्रस्तुतीकरण को ले सकते हैं जिसमें एक विचार को पुष्ट करने के लिए दूसरा विचार प्रस्तुत किया जाता है । उदाहरण के लिए निम्नांकित कुछ उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(क) करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान ।

रसरी आवत जात ते सिल पै परत निसान ॥

(ख) सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय ।

पवन जगावत आग को, दीर्घा देत वुझाय ॥

उपर्युक्त उदाहरणों में एक विचार को अनुभूतिगम्य बनाने के लिए उसके अनुकूल दूसरा विचार प्रस्तुत किया गया है । इन दोनों प्रकार के विचारों को अलंकार शास्त्र की भाषा में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत की संज्ञा दी जाती है । यहाँ पर उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत में से एक सैद्धान्तिक स्तर का है तो दूसरे

का सम्बन्ध व्यावहारिक जगत से है। अस्तु, इनमें सिद्धान्त का प्रतिपादन व्यावहारिक उदाहरण से किया गया है। यद्यपि अलंकार-शास्त्रियों ने इस प्रकार के प्रतिपादन को भी अलंकार के एक भेद 'उदाहरण' की संज्ञा दे दी है, किन्तु वास्तव में इनमें भावप्रेरित अलंकरण के स्थान पर बौद्धिक दृष्टि से प्रस्तुत सादृश्य या तुलना की ही प्रमुखता है। न्याय-शास्त्र या तर्क-शास्त्र में किसी भी विचार को सिद्ध करने के लिए कई प्रकार के प्रमाण माने गये हैं, जिनमें से एक उपमान या सादृश्य भी है (यद्यपि इसे हलके स्तर का प्रमाण माना गया है)। इस दृष्टि से उपर्युक्त उदाहरणों में उपमान या सादृश्य की सत्ता सिद्ध की जा सकती है। ऐसी स्थिति में यहाँ एक प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त उक्तियों को साहित्य में स्थान देना कहाँ तक उचित है ? क्यों न इन्हें नीति-शास्त्र में स्थान दिया जाय ?

उपर्युक्त प्रश्न के समाधान के लिए हमें सबसे पूर्व न्याय-शास्त्रीय उपमान एवं साहित्यिक उपमान के कुछ प्रकृत भेदों पर ध्यान देना होगा। न्याय-शास्त्र में उपमान उपमेय के क्षेत्र से ही सम्बद्ध होता है जब कि साहित्य में ऐसा नहीं होता। उपर्युक्त उक्तियों में उपमेय और उपमान परस्पर असम्बद्ध हैं। इसी लिए तर्क-शास्त्र के अनुसार इसमें प्रतिपादित विचार प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। तार्किक के दृष्टिकोण से कहा जा सकता है—सिल तो ठोस पदार्थ है इस लिए वह घिस सकता है किन्तु जड़मति सुजान कैसे हो सकता है ? फिर घिसने से पत्थर हलका ही पड़ता है, उसके गुणों में या उसकी प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं आता, अर्थात् पत्थर से वह हीरा नहीं बन जाता, ऐसी स्थिति में 'मूर्ख' का 'बुद्धिमान' बन जाना कैसे संभव है ? बल्कि इससे तो यही सिद्ध होता है कि पत्थर को चाहे कितना ही घिसो वह पत्थर ही रहता है, वैसे ही मूर्ख सदा मूर्ख ही रहता है।

अस्तु, शास्त्रीय प्रतिपादन में उपमान उसी स्थिति में स्वीकार्य होता है जहाँ कि वह मूल विषय से सम्बद्ध हो तथा तर्क पर आधारित हो जब कि साहित्य में ऐसा नहीं होता। साहित्य में उपमान या अप्रस्तुत विषय का लक्ष्य केवल मात्र उपमेय या प्रस्तुत के अनुरूप लौकिक अनुभूति मात्र जगा देना होता है—बौद्धिक दृढ़ता उसमें नहीं होती। फिर भी इतना अवश्य है कि इस प्रकार की उक्तियों को जिनमें एक विचार का समर्थन या प्रतिपादन किसी अन्य विचार के द्वारा किया गया हुआ हो या जिनमें अनुभूति और कल्पना का योग बहुत कम हो, उन्हें उच्चकोटि के काव्य में स्थान नहीं दिया जा सकता। इसी लिए आचार्य शुक्ल ने इन्हें 'सूक्तियों' की संज्ञा देते हुए इनकी हीनता की ओर संकेत किया था।

(२) भाव के सहयोग से प्रस्तुतीकरण—विचारों को साहित्य में प्रस्तुत करने की दूसरी विधि यह है कि उन्हें किसी भाव का अंग बना दिया जाता है। उस स्थिति में विचार भाव का सहयोगी, उद्दीपक या व्यञ्जक बन जाता है। उदाहरण के लिए जब एक व्यक्ति किसी के कष्ट को देखकर द्रवित हो रहा हो और उसी समय

उसके मन में यह विचार उत्पन्न हो कि “दुःखी की सेवा करने से परमात्मा प्रसन्न होता है।” या “परोपकार ही सब से बड़ा धर्म है।” तो उसकी सहानुभूति और भी सक्रिय करुणा के रूप में परिणत हो सकती है। इसी प्रकार “युद्ध-भूमि में मरने से स्वर्ग प्राप्ति होती है” इस विचार से सैनिक का उत्साह और भी अधिक बढ़ सकता है। अस्तु, हमारे द्वारा स्वीकृत विचार या धारणाएँ हमारे भावों के उत्कर्ष एवं अपकर्ष में परिस्थितियों के अनुसार पर्याप्त योग देती हैं—तथा उस स्थिति में उनकी अभिव्यक्ति भावों के अंग रूप में ही होती हैं।

कई बार विचार भाव का व्यंजक भी सिद्ध होता है। “पंजाबी बड़े मेहनती होते हैं।” या “पूँजीपति हमारे समाज के शोषक हैं।” इस प्रकार के विचार हमारी वर्ग-विशेष के प्रति भावना विशेष के द्योतक माने जायेंगे। अस्तु, साहित्य में भी विभिन्न पात्रों के विचार प्रायः उनकी चारित्रिक प्रवृत्तियों, भावनाओं एवं भाव-दशाओं के व्यंजक रूप में प्रस्तुत होते हैं। यदि रस-सिद्धान्त की शब्दावली में कहें तो विचार भावों के विभाव, अनुभाव, संचारी आदि तीनों अंगों के रूप में प्रस्तुत हो सकते हैं।

(३) कल्पना के सहयोग से प्रस्तुतीकरण—विचारों का प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने में कल्पना शक्ति भी पर्याप्त सहयोग प्रदान करती है। कल्पना-शक्ति एक ओर विचार की आधारभूत सामग्री की मात्रा में अभिवृद्धि करके उसे अधिक स्पष्ट एवं अनुभूतिगम्य रूप प्रदान कर देती है तो दूसरी ओर उसे बिम्बों, रूपकों, प्रतीकों आदि शैली सम्बन्धी तत्त्वों की सहायता से अत्यन्त आकर्षक रूप प्रदान कर देती है। यहाँ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

- (क) मृग मरीचिका के चिर पथ पर,  
सुख आता प्यासों के पग धर,  
रुद्ध हृदय के पट लेता कर,  
गवित कहता ‘मैं मधु हूँ मुझसे,  
क्या पतझड़ का नाता ?

—महादेवी

- (ख) बारू के मन्दिर माहि बैठि रह्यो स्थिर होइ,  
राखत है जीवन की आस केऊ दिन की।  
पल-पल छीजत घटत जात धरी-धरी,  
विनसत बेर कहा खबर न छिन की।

—सुन्दरदास

- (ग) माखी गुड़ में गडि रही पंख रही लपटाय।  
ताली पीटै सिर धुनै मीठै बोइ माय ॥

—कबीर

उपर्युक्त काव्यांशों में क्रमशः ‘सुख की संकीर्णता’ ‘जीवन की क्षण-भंगुरता’ एवं ‘लोभ का परिणाम’ सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति की गई है, किन्तु यह

अभिव्यक्ति यहाँ एक विशिष्ट शैली में—बिम्ब, रूपक, प्रतीक आदि के माध्यम से की गई है। शैली का यह वैशिष्ट्य वस्तुतः कल्पना-शक्ति का ही कार्य है। अतः हम कह सकते हैं कि कल्पना शक्ति के सहयोग से विचार साहित्य में अनुभूतिगम्य रूप प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ दार्शनिक तर्क के बल पर अपने विचार की उपयुक्तता या उसका औचित्य सिद्ध करता है वहाँ साहित्यकार कल्पना के बल पर उसे ऐसा आकर्षक रूप प्रदान करता है कि वह पाठक के लिए सहज ही ग्राह्य हो जाता है—इतना ही नहीं वह उसे विशेष आनन्द—काव्यानन्द भी प्रदान करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य में विचारों का प्रस्तुतीकरण अन्य क्षेत्र के विचारों, भावानुभूतियों एवं कल्पना शक्ति के सहयोग से होता है।

### ७.४. विचार-प्रधान साहित्य—

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, साहित्य की प्रत्येक रचना में भाव, विचार और कल्पना—तीनों तत्त्व किसी न किसी मात्रा में सदा विद्यमान रहते हैं—इतना ही नहीं, प्रत्येक भाव, विचार और कल्पना के मूल में भी दूसरे तत्त्व सदा सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते हैं, अतः इस दृष्टि से किसी भी साहित्य को शुद्ध विचारात्मक तो किसी भी दशा में नहीं कहा जा सकता, और यदि वह ऐसा है तो उस स्थिति में उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता (इसके स्थान पर उसे दर्शन या विज्ञान कहना अधिक उचित होगा) पर इसके साथ यह भी निश्चित है कि ये तीनों तत्त्व—भाव, विचार एवं कल्पना—सभी साहित्यिक रचनाओं में सदा समान मात्रा में ही मिश्रित नहीं रहते, किसी रचना में किसी एक तत्त्व की प्रमुखता रहती है तो किसी में अन्य की तथा शेष तत्त्व उनमें गौण रूप में रहते हैं। अतः इस दृष्टि से हम सभी साहित्यिक रचनाओं को तीन वर्गों में—भाव-प्रधान, विचार-प्रधान एवं कल्पना-प्रधान—में विभाजित कर सकते हैं। इनमें से यहाँ विचार-प्रधान साहित्य पर विशेष प्रकाश डाला जायगा, शेष दो वर्गों का विवेचन भाव एवं कल्पना के प्रसंग में किया जायगा।

विचार-प्रधान साहित्य में हम उन रचनाओं को रख सकते हैं जिनमें रचयिता का लक्ष्य मुख्यतः किसी विचार-विशेष का प्रतिपादन करना हो तथा जिसके कारण उसमें भावात्मकता एवं काल्पनिकता की अपेक्षा विचारात्मकता को अधिक स्थान प्राप्त हो गया हो। भाव और कल्पना को उनमें चाहे कितना ही स्थान क्यों न मिला हो, किन्तु वे उसमें निहित विचार के अंग या सहायक के रूप में ही आये हुए होंगे या यों कहिए कि उनका उपयोग केवल विचार को अनुभूतिगम्य एवं आकर्षक रूप प्रदान करने के लिए ही हुआ होगा—स्वतन्त्र रूप में उनकी महत्ता नहीं होगी। इसके विपरीत जहाँ विचार प्रमुख रूप में आकर भाव या विचार के अंग-रूप में आया हो, उसे हम विचार-प्रधान साहित्य में स्थान नहीं दे सकते। यहाँ हम उदाहरण के लिए दोनों प्रकार की रचनाओं के कुछ अंश प्रस्तुत करते हैं—

(क) विचार-प्रधान रचनाओं के कुछ अंश

(अ) संसार की क्षण-भंगुरता—

कबीर कहा गरबियौ, इस जीवन की आस ।  
टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास ॥

—कबीर

(आ) दुष्ट के लक्षण—

अपने न दोष पेखे, पर के औगुण पेखे, \*  
दुष्ट को सुभाव, उठि निन्दा ही करतु है ।

× × ×  
पाँव के तरे की नहीं सूझे आग मूरख कूँ,  
और सूँ कहत तेरे, सिर पै बरतु है ।

—सुन्दरदास

(इ) “वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है । जिससे हमें दुःख पहुँचा है, उस पर यदि हमने क्रोध किया और यह क्रोध यदि हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है ।”  
—चिन्तामणि (रामचन्द्र शुक्ल)

(ख) ऐसे अंश जिनमें विचार की सत्ता गौण है—

(अ) राम नाम कै पटंतरै, देवे कौ कुछ नाँहि ।  
क्या ले गुर संतोषिए, होस रही मन माँहि ॥

—कबीर

(आ) कोऊ कहै रे मधुप तुमें लाजौं नहि आवत ।  
स्वामी तुम्हरी स्याम कूबरी दास कहावत ॥  
इहाँ ऊँचि पदवी हुती गोपीनाथ कहाय ।  
अब जदुकुल पावन भयो दासी-जूठन खाय ॥

—नन्ददास

(ग) “अशोक में फिर फूल आगये हैं ।.....लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है । इस लिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है । कुछ लोगों को मिलता है । वे बहुत दूरदर्शी होते हैं । जो भी सामने पड़ गया उसके जीवन के अन्तिम मुहूर्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं । मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती, फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है ।”  
—अशोक के फूल (ह० प्र० द्विवेदी)

उपर्युक्त अंशों को ध्यान-पूर्वक देखने से यह स्पष्ट रूप में प्रतीत होगा कि जहाँ क वर्ग के अंशों में विचार-विशेष की अभिव्यक्ति ही प्रमुख है, अनुभूति एवं कल्पना गौण है, वहाँ ख वर्ग के उदाहरणों में मूल प्रेरणा अनुभूति या कल्पना की

है, विचार उनके सहयोगी के रूप में आये हैं। जैसे कि ख—अ में कबीर का श्रद्धा-भाव उसमें निहित विचार की अपेक्षा प्रमुख है, 'राम नाम के बदले में कुछ भी नहीं दिया जा सकता'—यह विचार श्रद्धा-भाव के ही समर्थन में प्रस्तुत हुआ है। इसी प्रकार उदाहरण ख—आ में नंददास की गोपियाँ कृष्ण की गिरावट का प्रतिपादन तर्क-पूर्ण ढंग से करती है, किन्तु उस तर्क के मूल में रोष एवं व्यंग्य की भावनाएँ ही प्रमुख हैं अतः यहाँ भी प्रतिपादन विचारात्मक न होकर भावात्मक अधिक है। 'ग' उदाहरण में लेखक ने स्पष्ट रूप से दूर-द्रष्टा लोगों के सम्बन्ध में मनोरंजक विचार प्रस्तुत किये हैं, वे भी लेखक की विशेष भाव-दशा—खिन्नता के भाव से प्रेरित हैं; इसी लिए वह 'खिन्नता' की चर्चा से प्रसंग का आरंभ करता है और 'दूरदर्शी' लोगों पर व्यंग्य की चपत लगाकर पुनः अपने असली प्रसंग पर लौट जाता है—अतः यहाँ भी विचार भाव के अंग रूप ही प्रस्तुत हुए हैं।

अस्तु, प्रतिपादित एवं व्यक्त विचार की प्रमुखता के आधार पर ही किसी रचना या उसके अंश को विचार-प्रधान कहा जा सकता है।

### ७.५. विचार-प्रधान साहित्य और परंपरागत साहित्य-शास्त्र—

यद्यपि परंपरागत साहित्य-शास्त्र में 'विचार-प्रधान साहित्य' का कोई स्वतंत्र भेद नहीं मिलता, किन्तु फिर भी उसमें कुछ ऐसे सिद्धान्त अवश्य मिलते हैं जिनका सम्बन्ध मुख्यतः विचारात्मक या विचार-प्रधान साहित्य से है। इनमें तीन सिद्धान्त—औचित्य, उदात्त एवं शान्त रस—उल्लेखनीय हैं। औचित्य का सम्बन्ध भाव एवं कल्पना की अपेक्षा विचार से अधिक है। भावनाओं की व्यंजना में या कल्पना की तरंगों में व्यक्ति औचित्य का पूर्णतः निर्वाह नहीं कर पाता, अपितु वह अतिरंजना एवं अतिशयोक्ति में बह जाता है। भावानुभूति से प्रेरित अतिरंजना या चमत्कारपूर्ण काल्पनिकता साहित्य में प्रायः स्वीकार्य मानी जाती है, किन्तु विचारों के प्रतिपादन में या सिद्धान्त-निरूपण में औचित्य को सत्ता पूर्णतः अनिवार्य है। उदाहरण के लिए किसी विचात्मक लेख या आलोचनात्मक निबन्ध में यदि विषय-निरूपण औचित्य से शून्य हुआ तो उसे पाठक की बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकेगी। जहाँ हमारी भावना सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होती है, वहाँ बुद्धि सत्य या औचित्य की ओर अग्रसर होती है। विचारों का सम्बन्ध भावना की अपेक्षा बुद्धि से अधिक है। इसलिए उनमें औचित्य की सत्ता विशेष रूप से अपेक्षित है।

औचित्य की ही भाँति उदात्त का सम्बन्ध भी भावना की अपेक्षा बुद्धि से अधिक है। उदात्त या औदात्य की व्याख्या करते हुए अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है—कि किसी भी विचार या कार्य की उच्चता एवं महानता के बोध को ही उदात्त कहते हैं। उच्चता या महानता का निर्णय बुद्धि की सहायता से होता है—

अतः बौद्धिक तत्त्वों या विचारों से उदात्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदात्त विचारों की अनुभूति से ही साहित्य में औदात्य का संचार होता है।

रसवादी आचार्यों ने प्रत्यक्ष रूप में भाव को ही साहित्य का प्रधान तत्त्व माना है किन्तु 'शान्त रस' के रूप में उन्होंने विचार तत्त्व को भी अप्रत्यक्ष रूप में मान्यता दी है। जहाँ अन्य रसों में भावना-विशेष स्थायीभाव के रूप में विद्यमान रहती है वहाँ शान्त रस में बौद्धिक तत्त्वों की अनुभूतिजन्य शान्ति की प्रधानता रहती है। जब हम किसी बौद्धिक विषय में तल्लीन हो जाते हैं तो उस समय हमें राग-द्वेष से शून्य जिस शान्ति की अनुभूति होती है—वही शान्त रस का स्थायीभाव है। इसी अनुभूति को रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने विभिन्न नाम देते हुए शान्त रस के स्थायी भाव के लिए विभिन्न विकल्प प्रस्तुत किये हैं; जैसे—शम, निर्वेद, सम्यक् ज्ञान, तृष्णा-क्षय-मुख, सर्व चित्तवृत्ति-प्रशम,<sup>१</sup> आदि। वस्तुतः ये सब तत्त्व विचार-प्रधान साहित्य के आस्वादन से प्राप्त बौद्धिक शान्ति के ही विभिन्न पक्षों को सूचित करते हैं, अतः इस दृष्टि से हम 'शान्त रस' को 'बौद्धिक रस' भी कह सकते हैं।

इस प्रकार औचित्य, औदात्य, एवं शान्त रस सम्बन्धी धारणाओं से विचार-प्रधान साहित्य के कुछ पक्षों पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु परंपरागत साहित्य-शास्त्र में तत्त्वों के अनुपात पर आधारित इस प्रकार के वर्गीकरण का अभाव होने के कारण उपर्युक्त धारणाएँ अस्पष्ट एवं अव्यावहारिक हो गई हैं, जब कि नये वर्गीकरण के आधार पर उन्हें अधिक स्पष्ट एवं व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है।

### ७.६. विचार-प्रधान साहित्य और आकर्षण-शक्ति—

आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्रकार के साहित्य में आकर्षण शक्ति का अस्तित्व अपेक्षित है अन्यथा वह साहित्य शक्ति-हीन या साहित्यिकता-शून्य कहा जायगा—अतः विचार-प्रधान साहित्य में भी आकर्षण-शक्ति का अस्तित्व प्रत्येक स्थिति में अपेक्षित है। साहित्य की आकर्षण शक्ति के तीन भेदों—भावात्मक आकर्षण, बौद्धिक आकर्षण, एन्द्रिक आकर्षण—में से विचार-प्रधान साहित्य का सम्बन्ध मुख्यतः बौद्धिक आकर्षण से है। मूलतः विचारों में आकर्षण शक्ति सुषुप्त रहती है, किन्तु साहित्य में अन्य तत्त्वों के संपर्क से उन्हें एक ऐसा रूप प्राप्त हो जाता है जिससे कि उनकी शक्ति उद्दीप्त, व्यक्त, एवं सक्रिय हो जाती है। इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हमें यहाँ आकर्षण-शान्ति सिद्धान्त की निम्नांकित प्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—

(१) जब द्रव्य में त्रिगुणात्मक तत्त्व परस्पर संतुलित रहते हैं तो उसमें निहित शक्ति सुषुप्त हो जाती है।

(२) शक्ति की उद्दीप्ति के लिए द्रव्य के त्रिगुणात्मक तत्त्वों के पारस्परिक संतुलन को भंग करना पड़ता है ।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि जहाँ दर्शन एवं विज्ञान में प्रतिपादित विचार भाव एवं कल्पना, उपमेय और उपमान, शब्द और अर्थ की दृष्टि से पूर्णतः संतुलित रहते हैं वहाँ साहित्य में ऐसा नहीं रहता । जैसा कि अन्यत्र संकेत किया गया है, साहित्यकार विचारों को अनुभूति एवं कल्पना के मिश्रण के द्वारा उन्हें आकर्षक रूप प्रदान कर देता है । वस्तुतः जिस प्रकार वैज्ञानिक द्रव्य का रूप परिवर्तन करके उसमें निहित शक्ति को जगा लेता है, वैसे ही साहित्यकार रूप-परिवर्तन के द्वारा विचारों की शक्ति को उद्दीप्त कर लेता है । रूप-परिवर्तन की इस प्रक्रिया का अधिक विस्तृत विवेचन आगे रूप एवं शैली के प्रसंग में किया जायगा । अतः यहाँ बौद्धिक आकर्षण का संकेत मात्र करके ही प्रसंग को समाप्त किया जाता है ।



८

## कल्पना-तत्त्व : मनोवैज्ञानिक विवेचन



### ८.१. 'कल्पना' : शब्दार्थ—

'कल्पना' का सम्बन्ध 'कल्पनम्' से है जिसका अर्थ होता है—रचना या बनाना । इसी के आधार पर 'कल्पना' के अनेक अर्थ प्रचलित हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं<sup>१</sup>—  
(१) रचना, बनावट, सजावट, (२) वह शक्ति जो अतःकरण में ऐसी वस्तुओं का स्वरूप उपस्थित करती है जो उस समय इन्द्रियों के सम्मुख उपस्थित नहीं होता ।  
(३) एक वस्तु में अन्य का आरोप (४) भावना या मान लेना (५) मनगढन्त बात । इन अर्थों में से हम यहाँ किसे ग्रहण करें—इसका निर्णय करने से पूर्व हमें इसके अंगरेजी पर्याय 'इमेजिनेशन' (Imagination) का अर्थ समझ लेना चाहिए क्योंकि आधुनिक साहित्य के क्षेत्र में 'कल्पना' का प्रयोग वस्तुतः आंग्ल 'इमेजिनेशन' के समानार्थक शब्द के रूप में होता है । 'इमेजिनेशन' के भी 'आक्सफोर्ड इंगलिश-डिक्शननरी' के अनुसार निम्नांकित अर्थ होते हैं—

(क) जो वस्तु इन्द्रियों के सम्मुख प्रत्यक्ष नहीं है उसका मानसिक रूप-विधान कल्पना है ।

(ख) अघटित घटनाओं और कार्यों का मानसिक चिन्तन ।

(ग) वह मानसिक शक्ति जिसके द्वारा अप्रत्यक्ष बाह्य पदार्थों के बिम्ब और प्रत्यय (Concepts) निर्मित होते हैं ।

(घ) मस्तिष्क की वह शक्ति जो बाह्य पदार्थों के आधार पर उपलब्ध निष्कर्षों के अतिरिक्त उनके सम्बन्ध में प्रत्ययों की रचना करती है ।

(ङ) चिन्तन में लीन मस्तिष्क या चिन्तन, विचार या मत ।

है, किन्तु इसके स्वरूप के और अधिक स्पष्टीकरण के लिए उसके विभिन्न लक्षणों पर विचार किया जा सकता है।

### ८.५. कल्पना के प्रमुख लक्षण—

विभिन्न चिन्तकों एवं मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना के स्वरूप का विवेचन करते हुए इसके अनेक लक्षणों पर प्रकाश डाला है। श्री मैकडूगल<sup>६</sup> महोदय के विचार से प्रत्येक कल्पना किसी न किसी पूर्व अनुभूति या प्रत्यक्षीकरण (Perception) पर आधारित होती है। दूसरे, कल्पना सदा भविष्य की ओर अभिमुख होती है। तीसरे वह सोद्देश्य या इच्छा-प्रेरित होती है। श्री जीन पाल सार्त्र ने कल्पना के चार प्रारम्भिक लक्षण इस प्रकार बताये हैं<sup>७</sup>—(१) उसका सम्बन्ध चेतना से है या वह हमारी चेतना की अंग है। (२) उसमें अर्द्ध निरीक्षण की प्रवृत्ति होती है। (३) इसका आलम्बन शून्य—या सत्ताहीन होता है। (४) यह स्वच्छन्द होती है। श्री बी० एन० झा ने कल्पना के सम्बन्ध में ये निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं<sup>८</sup>—(१) यह एक मानसिक प्रक्रिया है। (२) यह सचेष्ट प्रक्रिया है। (३) कल्पना के समय ऐन्द्रिक प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। (४) यह मूर्त पदार्थों के पूर्व सम्पर्क पर आधारित होती है। (५) इसकी मानसिक सामग्री विम्बों के रूप में संचित रहती है। इसी प्रकार डा० यदुनाथ सिन्हा ने उसके विभिन्न लक्षणों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—“यह अतीत अनुभवों के तत्त्वों को पुनः उत्पन्न करती है और उन्हें नवीन संयोगों में रखती है”<sup>९</sup> इसमें अतीत के अनुभवों की हबहू पुनरावृत्ति नहीं होती अपितु उन्हें नये रूपों में प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरण के लिए—“आपने भूतकाल में गुलाब के फूलों और नीले रंग को देखा है, किन्तु नीले गुलाबों को कभी नहीं। लेकिन आप एक गुलाब की प्रतिमा और नीले रंग की प्रतिमा का पुनरुत्पादन कर सकते हैं तथा उन्हें एक नीले गुलाब की प्रतिमा से संयुक्त कर सकते हैं। इसी प्रकार आप एक सुनहरे पहाड़ या दश सिर वाले राक्षस की प्रतिमा कल्पित कर सकते हैं और चलते हुए सिरहीन मनुष्यों की प्रतिमाएँ कल्पित कर सकते हैं।”<sup>१०</sup>

कल्पना की मूल प्रेरणा-शक्ति के सम्बन्ध में भी डा० सिन्हा ने स्पष्ट किया है कि ‘कल्पना की प्रक्रिया इच्छा-प्रेरित होती है। यह हमारी इच्छाओं से प्रभावित होती है। वच्चा अपनी इच्छाओं को तृप्त करने के लिए ‘हवाई महल’ बनाता है।’ या

6. An outline of psychology : Mcdougall 1949, Page 284.

7. The psychology of Imagination : Jeanpaul Sartre 1948, Page 4-7.

8. Modern Educational Psychology : B. N. Jha 1945, Page 318.

९. मनोविज्ञान : यदुनाथ सिन्हा (हिन्दी अनुवाद), पृ० १८६।

१०. मनोविज्ञान : यदुनाथ सिन्हा (हिन्दी अनुवाद), पृ० १९०।

मर्फी महोदय के शब्दों में 'कल्पना अप्राप्य लक्ष्यों को प्राप्त करने का एक उपाय है'।<sup>११</sup>

अस्तु, विभिन्न विद्वानों के विचारों का समन्वय करते हुए कल्पना के निम्नांकित प्रमुख लक्षण बताये जा सकते हैं—

- (क) कल्पना पूर्व अनुभूतियों पर आधारित होती है।
- (ख) कल्पना भविष्य की ओर अभिमुख होती है।
- (ग) कल्पना की क्रिया इच्छा-प्रेरित होती है।
- (घ) कल्पना स्वच्छन्द (अर्थात् बुद्धि के नियंत्रण से मुक्त) होती है।
- (ङ) कल्पना की सक्रियता के समय सम्बन्धित विषय का ऐन्द्रिक प्रत्यक्षीकरण नहीं होता या यों कहिए कि उसका आलम्बन अप्रत्यक्ष होता है।
- (च) कल्पना की सामग्री बिम्बों (Images) के रूप में मस्तिष्क में संचित रहती है।
- (छ) कल्पना का कार्य अतीत अनुभवों को नया रूप प्रदान करना है या पूर्व उपलब्ध ज्ञान-सामग्री को नये रूप में प्रस्तुत करना है।

#### ८.६. कल्पना और बिम्ब-विधान—

कल्पना की निकटतम मानसिक प्रवृत्तियाँ बिम्ब-विधान, स्मृति एवं चिन्तन शक्ति हैं। अतः कल्पना के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिये इनका कल्पना से तुलनात्मक अध्ययन उपयोगी सिद्ध होगा। कल्पना का सबसे गहरा सम्बन्ध बिम्ब-विधान (Imagery) से है। जिस प्रकार कल्पना में वस्तु के साथ प्रत्यक्ष ऐन्द्रिक सम्बन्ध नहीं रहता, वैसा ही बिम्ब-विधान में होता है। बिम्ब या प्रतिमा के रूप में जब कोई दृश्य या पदार्थ मस्तिष्क में प्रभाव छोड़ जाता है तो उसे ही बिम्ब-विधान कहते हैं।<sup>१२</sup> इन बिम्बों के रूप में संचित सामग्री से मस्तिष्क अपनी विभिन्न क्रियाएँ संपादित करता है। कल्पना की प्रक्रिया में भी ये बिम्ब पर्याप्त सहयोग देते हैं; इसी से लोग प्रायः बिम्ब-विधान (Imagery) और कल्पना को एक समझ लेते हैं जबकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इनमें सूक्ष्म अन्तर है।<sup>१३</sup> बिम्ब-विधान में मूल वस्तु, पदार्थ या दृश्य का बिम्ब मात्र हमारे मस्तिष्क में अंकित हो जाता है। यह बिम्ब मूल पदार्थ के बिल्कुल अनुरूप होता है—उसमें कोई विशेषता, नवीनता या भिन्नता नहीं होती। इसके विपरीत कल्पना में पूर्व-संचित बिम्बों को नये रूप में सजाया जाता है—यहाँ तक कि उनके आधार पर ऐसी वृत्ति प्रस्तुत की जा सकती है, जिसे हम सर्वथा नवीन एवं मौलिक कह सकें। इस दृष्टि से बिम्ब-विधान यदि मूल कृति का

११. मनोविज्ञान : यदुनाथ सिन्हा (हिन्दी अनुवाद), पृ० १८०।

१२. मनोविज्ञान : यदुनाथ सिन्हा (हिन्दी अनुवाद), पृ० २११।

13. Modern Educational Psychology : B. N. Jha, Page 319.

यथार्थ रूप प्रस्तुत करता है तो कल्पना उसे नया रूप प्रदान करती है। कल्पना बिम्ब-विधान की सहायता लेती है—किन्तु उसका कार्य-क्षेत्र उन्हीं तक सीमित नहीं है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कल्पना शक्ति केवल बिम्बों पर ही आधारित नहीं रहती, वह तथ्यों, विचारों और प्रत्ययों से भी आवश्यकतानुसार सहायता लेती है।<sup>१४</sup> इसी प्रकार बिम्ब-विधान भी केवल कल्पना-शक्ति के ही सहयोगी नहीं हैं वे हमारी अन्य मानसिक प्रवृत्तियों—स्मृति, चिन्तना आदि की भी सहायता करते हैं।<sup>१५</sup> अस्तु, कल्पना और बिम्ब-विधान को एक मानना ठीक नहीं।

### ८.७. कल्पना और स्मृति—

कल्पना और स्मृति में भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है—यहाँ तक कि मनो-वैज्ञानिकों ने स्मृति को 'पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना' (Reproductive Imagination) तक कहा है।<sup>१६</sup> कल्पना और स्मृति दोनों में ही अतीत के अनुभवों के आधार पर मस्तिष्क गतिशील होता है। दोनों में ही सम्बन्धित विषय प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित नहीं रहता। दोनों परस्पर सहायक और पूरक भी हैं—कल्पना यदि स्मृतियों को नया रूप देती है तो स्मृतियों में भी कल्पना का थोड़ा-बहुत अंश रहता है। इस प्रकार दोनों में गहरा सम्बन्ध है किन्तु फिर भी दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। स्मृति में पूर्व अनुभवों की प्रतिलिपियाँ सुरक्षित रहती हैं जबकि कल्पना में उन अनुभवों को नया रूप दिया जाता है। स्मृति अतीत की पुनरावृत्ति मात्र प्रस्तुत करती है—उसमें नये सर्जन की क्षमता नहीं होती जबकि कल्पना में ऐसा होता है। दूसरे, स्मृति जहाँ-हमें अतीत की ओर अभिमुख करती है वहाँ कल्पना भविष्य के स्वप्न प्रदान करती है। स्मृति 'क्या हुआ है ?' का उत्तर देती है—कल्पना 'क्या हो सकता है ?' का समाधान करती है। तीसरे, स्मृतियाँ स्थान और काल की विशेषताओं एवं सीमाओं से बँधी रहती हैं, उन पर तथ्यों और घटनाओं का नियंत्रण रहता है जब कि कल्पना देश-काल की सीमाओं से मुक्त एवं तथ्यों से दूर रहती है। कल्पना की गति स्वच्छन्द होती है, स्मृति का सा संयम उसमें नहीं होता। इसी लिये साहित्य में कल्पना का अधिक महत्त्व होता है जबकि इतिहास में स्मृतियों का। अस्तु, कल्पना और स्मृति परस्पर सहायक होती हुई भी दो स्वतंत्र मानसिक शक्तियाँ हैं।

### ८.८. कल्पना और विचार (चिन्तन-शक्ति)—

कल्पना और चिन्तन शक्ति (Thinking) में भी बाह्य स्वरूप की दृष्टि से

14. Encyclopaedia of Religion and Ethics.

15. The same.

१६. मनोविज्ञान : यदुनाथ सिन्हा (हिन्दी अनुवाद), पृ० १६०।

गहरा साम्य है किन्तु दोनों के कार्य-क्षेत्र एवं लक्ष्य में अन्तर है। कल्पना का कार्य-क्षेत्र विषय की नवीनता एवं मौलिकता से सम्बन्धित है जबकि विचार का कार्य विषय को व्यवस्थित एवं उचित रूप देना होता है। कल्पना प्रत्येक संभावना—क्या हो सकता है ?—को स्वीकार कर लेती है जबकि विचार या चिन्तन उन संभावनाओं के अच्छे और बुरे पक्ष की मीमांसा करता है। कल्पना बुद्धि के नियंत्रण से मुक्त रहती है जबकि विचार शक्ति उसी की से परिचालित होता है। वस्तुतः जिस प्रकार मन की सक्रियता या चंचल अवस्था कल्पना है, उसी प्रकार बुद्धि की मक्रियता को चिन्तन का नाम दिया जाता है।

कल्पना और विचार में एक बहुत बड़ा अंतर यह है कि जहाँ कल्पना लक्ष्य-विहीन होती है वहाँ विचार के सम्मुख कोई निश्चित लक्ष्य होता है। डा० जदुनाथ सिन्हा के शब्दों में—“विचार सामान्यतया किसी लक्ष्य या प्रयोजन से संचालित होता है। यह किसी लक्ष्य की ओर उन्मुख होता है। लक्ष्य चाहे सैद्धान्तिक हो, चाहे व्यावहारिक ; विचार साहचर्य का नियंत्रण करता है। स्वच्छन्द कल्पना में मुक्त साहचर्य का समावेश होता है। उदाहरणार्थ, दिवा स्वप्न अथवा मनोराज्य में मुक्त साहचर्य होता है जिसका कोई प्रयोजन पथ-प्रदर्शन नहीं करता।”<sup>१७</sup> इस प्रकार विशुद्ध कल्पना सर्वथा उन्मुक्त होती है, किन्तु कई बार जब कल्पना अधिक व्यावहारिक क्षेत्र में प्रयुक्त होती है तो वह भी किसी न किसी प्रयोजन से सम्बद्ध हो जाती है तथा उस स्थिति में वह हमारी चिन्तन-शक्ति की सहायक एवं पूरक बन जाती है। वस्तुतः विचार की प्रक्रिया में कल्पना का थोड़ा-बहुत सहयोग सदा अपेक्षित रहता है—अतः कहा जा सकता है कि कल्पना विचार की सहधर्मिणी है जो कभी-कभी उससे सम्बन्ध-विच्छेद करके स्वतंत्र एवं स्वच्छन्द भी हो जाती है। स्वच्छन्द कल्पना पर विचार का अंकुश नहीं रहता, वह तथ्यों की परवाह नहीं करती और भले-बुरे का विचार छोड़कर वह सर्वत्र विचरण करती रहती है। कला-मृष्टि एवं साहित्य-रचना में स्वच्छन्द कल्पना का ही उपयोग अधिक होता है जबकि दार्शनिक चिन्तन एवं ऐतिहासिक अनुसंधान में बुद्धि द्वारा नियंत्रित कल्पना या चिन्तना का उपयोग होता है। अस्तु, कल्पना और चिन्तना में हमारी दृष्टि में इस स्वच्छन्दता एवं नियंत्रण का ही अन्तर है—बुद्धि से नियंत्रित कल्पना ही विचार या चिन्तना का रूप धारण कर लेती है।

## ८.६. कल्पना के स्तर-भेद—

मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना के विभिन्न स्तर-भेद भी निर्धारित किये हैं। श्री मैडगल महोदय के विश्लेषण के अनुसार सामान्यतः कल्पना के विकास को तीन

स्तरों में विभाजित किया जा सकता है<sup>१८</sup>—(१) पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना (Reproductive Imagination) (२) रचनात्मक कल्पना (Constructive Imagination) और (३) नव सर्जनात्मक कल्पना (Creative Imagination)। इनमें सबसे नीचे स्तर की कल्पना पुनरावृत्त्यात्मक है, जिसमें केवल अतीत के अनुभवों की ही पुनरावृत्ति मात्र होती है। इसे स्मृति या स्मृति के समकक्ष मान सकते हैं। इससे उच्च स्तर की कल्पना रचनात्मक कल्पना है। इसका उपयोग व्यावहारिक जीवन की अनेक अनागत कठिनाइयों एवं परिस्थितियों की कल्पना में करते हैं। प्रायः हम एक परिस्थिति को देखकर दूसरी नई परिस्थिति की कल्पना कर लेते हैं—उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति की मृत्यु होते देखकर हम तुरन्त ही परिवार की भावी परिस्थितियों की—उसकी दुःखपूर्ण स्थितियों की कल्पना कर लेते हैं ; अतः इस व्यावहारिक स्तर की कल्पना को पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना से अधिक उच्चस्तर की मान सकते हैं किन्तु इससे भी ऊँचे स्तर की कल्पना नव सर्जनात्मक कल्पना है। इसमें विषय-वस्तु का सारा ढाँचा बिल्कुल नये रूप में प्रस्तुत होता है—यद्यपि इसके मूल में भी पूर्व अनुभूतियों का कोष निहित होता है। कला-सर्जन में इसी स्तर की कल्पना का उपयोग होता है।

सामान्यतः कल्पना के ये तीन स्तर उसकी गति की स्वच्छन्दता एवं उसके कार्य की नवीनता के अनुमापक हैं किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि ये स्तर सर्वथा परस्पर विच्छिन्न हैं। जैसा कि मैकडूगल महोदय ने स्वीकार किया है—परिस्थितियों के अनुसार एक स्तर की कल्पना दूसरे स्तर की कल्पना में बदलती या मिश्रित होती रहती हैं ; अतः इस विभाजन को स्थूल रूप में ही स्वीकार करना चाहिए—अधिक भूक्षमता एवं गंभीरता से नहीं।

### ८.१०. कल्पना के भेदोपभेद—

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इसके विभिन्न भेदोपभेद भी निर्धारित किये हैं। सामान्यतः कल्पना के दो भेद किये जाते हैं—(१) ग्रहणात्मक (Receptive) और (२) सर्जनात्मक (Creative)।<sup>१९</sup> किसी वर्णित विषय को जिस कल्पना शक्ति से हम ग्रहण करते हैं वह ग्रहणात्मक कल्पना है जबकि जिस शक्ति से हम नये विषय का वर्णन करते हैं वह सर्जनात्मक कल्पना मानी जाती है। सर्जनात्मक कल्पना के भी दो उपभेद माने गये हैं<sup>२०</sup>—(१) व्यवहारोन्मुख (Pragmatic) और (२) सौन्दर्योन्मुख। लौकिक व्यवहार में हम जिस कल्पना-शक्ति का उपयोग करते हैं वह व्यवहारोन्मुख है, जबकि कला-सृष्टि में सौन्दर्योन्मुख कल्पना का उपयोग होता है। इनमें भी प्रत्येक के दो-दो भेद माने गये हैं ;<sup>२१</sup> व्यवहारोन्मुख

18. An outline of Psychology, Page 291.

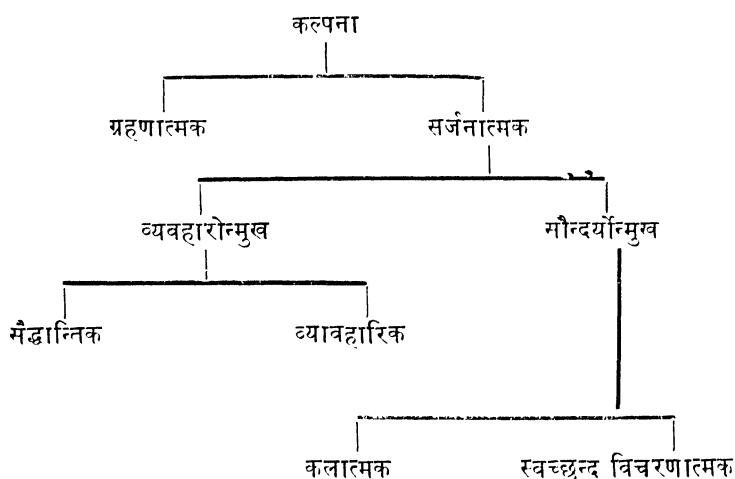
19-21. Modern Educational Psychology : B. N. Jha, Page 320-328,

के दो भेद हैं—सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक तथा सौन्दर्योन्मुख के दो भेद हैं—कलात्मक और स्वच्छन्द विचरणात्मक।

सैद्धान्तिक कल्पना के द्वारा हम विभिन्न प्रकार के नये सिद्धान्तों एवं नियमों की खोज करते हैं जबकि व्यावहारिक कल्पना का उपयोग उन सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने में—योजनाएँ तैयार करने में, किसी काम को करने का उपाय ढूँढने में—करते हैं। इसी प्रकार कलात्मक कल्पना के द्वारा कला-मृष्टि होती है जबकि स्वच्छन्द विचरणात्मक कल्पना के द्वारा दिवा-स्वप्नों का निर्माण होता है।

उपर्युक्त भेदोपभेद काफी व्यापक दृष्टिकोण से किये गये हैं—इनमें कल्पना के सभी रूप आ जाते हैं—यहाँ तक कि 'गतिशील चिन्तन' को—जो कि विचार का गत्यात्मक रूप है—भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है। गतिशील चिन्तन को हम चाहे विषुद्ध कल्पना न कहें किन्तु उसमें कल्पना का बहुत बड़ा योग रहता है, इसमें कोई संदेह नहीं। अतः हम चाहें तो 'गतिशील चिन्तन' को 'बुद्धि नियंत्रित कल्पना' भी कह सकते हैं।

कल्पना के उपर्युक्त भेदों को तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—



### ८.११. साहित्यिक कल्पना—

साहित्य-सर्जन में सौन्दर्योन्मुख कलात्मक कल्पना का उपयोग होता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसकी निम्नांकित विशेषताएँ बताई हैं<sup>२२</sup>—

(१) जहाँ व्यवहारोन्मुख कल्पना वास्तविक घटनाओं एवं सम्बन्धित तथ्यों से बँधी रहती है वहाँ सौन्दर्योन्मुख कलात्मक कल्पना स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त होती है। वह स्वेच्छानुसार तथ्यों और घटनाओं का चयन कर सकती है।

(२) सौन्दर्योन्मुख कल्पना में यदि थोड़ा-बहुत नियंत्रण होता भी है तो वह बाह्य एवं विषयमूलक नहीं होता, स्वयं व्यक्ति के मन द्वारा स्वीकृत आन्तरिक होता है।

(३) व्यवहारोन्मुख कल्पना से किसी समस्या का समाधान ढूँढा जाता है— उस समस्या के समाधान के अनन्तर हमें प्रसन्नता की अनुभूति होती है, किन्तु इससे पहले ऐसा नहीं होता, इसके विपरीत सौन्दर्योन्मुख कल्पना स्वतः आनन्ददायक होती है ; उसमें कार्य पूरा हो जाने के बाद नहीं अपितु आरंभ से ही ज्यों-ज्यों कल्पना सक्रिय होती जाती है, आनन्द मिलता जाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सौन्दर्योन्मुख कलात्मक कल्पना या साहित्यिक कल्पना स्वच्छन्द, वैयक्तिक एवं आनन्ददायक होती है। उसमें मन बुद्धि से अनियंत्रित होकर स्वच्छन्द विहार करता हुआ किसी नये इतिवृत्त की सर्जना करता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि साहित्यिक कल्पना में बुद्धि तत्त्व का सर्वथा अभाव होता है—बुद्धि तत्त्व उसमें होता है किन्तु वह कल्पना के अजस्र प्रवाह में घुला-मिला रहता है ; वह उस पर ऊपर से थोपा हुआ बोझ नहीं बनता। यही कारण है कि उससे आनन्द मिलता है क्योंकि जहाँ भी मुक्ति है, स्वतंत्रता है, वहाँ आनन्द का होना स्वाभाविक है।



## ९

# कल्पना-तत्त्व : साहित्यिक दृष्टि से विवेचन



### ६.१. साहित्य-शास्त्र में कल्पना की प्रतिष्ठा—

यद्यपि प्राचीन साहित्य-शास्त्र में कल्पना की चर्चा कवि की विशिष्ट सर्जन-क्षमता या प्रतिभा-शक्ति के रूप में समय-समय पर होती रही है किन्तु उसे साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आधुनिक युगीन पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी (Romantic) साहित्यकारों को ही है। कालरिज, वर्ड्सवर्थ, शैले प्रभृति साहित्यकारों ने कल्पना शक्ति को ही काव्य की मूल शक्ति घोषित करते हुए उसके विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला। जहाँ परंपरागत दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य अनुकरण की प्रवृत्ति का परिणाम होने के कारण अनुकृति मात्र समझा जाता था, वहाँ स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य मौलिक रचना—अनुकृति नहीं—सिद्ध किया गया क्योंकि उसकी सर्जना कल्पना-शक्ति के द्वारा होती है। इस प्रकार कल्पना की प्रतिष्ठा से न केवल स्वयं कल्पना-तत्त्व के अपितु साहित्यकार और उसके रचना-कार्य के महत्त्व में भी अभिवृद्धि हुई। आगे हम विभिन्न साहित्यकारों के विवेचन के आधार पर कल्पना के कुछ पक्षों पर प्रकाश डालेंगे।

### ६.२. कल्पना : स्वरूप-मीमांसा—

साहित्य-चिन्तकों ने कल्पना के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उसे सामान्यतः मस्तिष्क की एक ऐसी शक्ति के रूप में स्वीकार किया है जो कि हमारी विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं को संचालित करती है। कालरिज के शब्दों में 'वह सभी प्रकार के मानसिक बोध की मूल प्रेरक एवं आधार शक्ति है।'¹ किन्तु सभी विद्वान् कल्पना-

1. "The primary imagination, I hold to be the living power and prime agent of all human perception..." *Literaria Biographia* Chapter 13th.

शक्ति के इस व्यापक रूप को स्वीकार नहीं करते। श्री हर्बर्ट रीड महोदय उसे मस्तिष्क की सर्जन-शक्ति के रूप में मान्यता देते हुए 'आविष्कार' की पर्यायवाची सिद्ध करने हैं।<sup>२</sup> इस दृष्टि से कल्पना-शक्ति को नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा कह सकने है परन्तु अधिक गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कल्पना जिन तत्त्वों की सर्जना करती है वे सर्वथा नूतन या मौलिक नहीं होते—वे मूलतः पहले से ही मस्तिष्क में विद्यमान होते हैं ; कल्पना-शक्ति उन्हें केवल नया रूप प्रदान करती है। इसी लिए श्री मांल महोदय ने कल्पना की परिभाषा करते हुए लिखा है—“अपने सरलतम रूप में कल्पना एक ऐसी (मानसिक) शक्ति है जो कि पूर्व अनुभूत तत्त्वों की नई प्रतिलिपियों का पुनरुत्पादन करती है। यह वह (शक्ति) है जिसके द्वारा हम मस्तिष्क के अतीत कालीन ऐन्द्रिक अनुभवों की प्रतिमाओं को आहूत कर सकते हैं।”<sup>३</sup> अस्तु, साहित्य-विवेचकों में कल्पना के स्वरूप के सम्बन्ध में तीन मर्यादाएँ मिलती हैं—(१) वह सभी प्रकार के मानसिक-बोध की मूलाधार है। (२) वह केवल नव-सर्जन की क्षमता मात्र है। (३) वह अतीत के अनुभवों की पुनरावृत्ति मात्र प्रस्तुत करने वाली मानसिक शक्ति है। ये तीनों मर्यादाएँ उत्तरोत्तर अधिक संकीर्ण होती गई हैं, किन्तु इन सभी में आंशिक सत्य है। जैसा कि पीछे मनोवैज्ञानिक अध्ययन में स्पष्ट किया गया था, कल्पना शक्ति हमारे सभी प्रकार के बौद्धिक चिन्तन एवं भावानुभव को न्यूनाधिक मात्रा में सहयोग प्रदान करती है, अतः इसे मस्तिष्क की अत्यन्त व्यापक शक्ति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु इसे सभी प्रकार के मानसिक बोध की आधारभूत शक्ति बनाना अत्युक्तिपूर्ण सिद्ध होगा। प्रत्यक्ष-बोध, प्रत्यभिज्ञा एवं स्मरण-शक्ति में कल्पना का योग बहुत न्यून होता है—अतः इनमें कल्पना को ही आधारभूत शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार कल्पना में नव-सर्जन की क्षमता है, किन्तु वह नया सर्जन प्रचीन तत्त्वों पर ही आधारित होता है। जिस प्रकार एक बड़ई कड़ी के विभिन्न टुकड़ों को कुर्सी का रूप दे देता है, वैसे ही कल्पना शक्ति मस्तिष्क में संचित पूर्व संस्कारों, बिम्बों एवं अन्य तत्त्वों को एक नई कहानी का रूप दे देती है। सवाल यह है कि क्या हम एक कल्पित कहानी को सर्वथा नूतन कहानी कह सकते हैं जबकि उसके आधारभूत तत्त्व पहले से ही विद्यमान थे ? इसके उत्तर में हम बड़ई और कुर्सी के दृष्टान्त पर पुनर्विचार कर सकते हैं। बड़ई जिस सामग्री के द्वारा कुर्सी का निर्माण करता है, वह सामग्री सर्वथा नई नहीं होती, फिर भी उस 'कुर्सी' को हम नई कुर्सी कहते हैं क्योंकि कुर्सी के निर्माण से पूर्व—आधारभूत सामग्री के होते हुए भी 'कुर्सी' संज्ञा का अस्तित्व नहीं था। प्रत्येक नई वस्तु प्राचीन तत्त्वों के आधार पर

2. “English prose style” : By Herbert Read 1928, Page 139.

3. The Appreciation of poetry : E. G. Moll 1933, Page 74.

ही निर्मित होती है—किन्तु इसी से उस वस्तु को प्राचीन नहीं कहा जा सकता। कल्पना शक्ति भी पूर्व-संचित द्रव्य को नई वस्तु के रूप में प्रस्तुत करती है—यह 'नई वस्तु' और उसका 'नया रूप' कल्पना शक्ति की हो देन है ; अतः कल्पना को नूतन आविष्कार का श्रेय दिया जा सकता है तथा उसे सर्जन-शक्ति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इस निष्कर्ष को स्वीकार करने से पूर्व हमें तीसरी मर्यादा पर और विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि इसके अनुसार कल्पना नूतन सृष्टि नहीं करती अपितु अतीत की सामग्री का ही पुनरुत्थान करती है। अवश्य ही कल्पना अतीत की सामग्री का पुनरुत्थान करती है, किन्तु उसका यह पुनरुत्थान हूबहू मूल रूप में नहीं होता, जैसा कि स्मरण-शक्ति में होता है। जहाँ स्मरण-शक्ति अतीत के तत्त्वों को उसी रूप-रंग एवं देश-काल के सम्बन्धों सहित प्रस्तुत करती है वहाँ कल्पना उसके रूप-रंग और देश-काल को परिवर्तित करके उसे नई संज्ञा प्रदान कर देती है। अतः स्मरण-शक्ति और कल्पना के इस भेद को ध्यान में रखते हुए कल्पना को केवल पुनरावृत्ति या अनुकृति प्रस्तुत करने वाली शक्ति नहीं माना जा सकता—वह निश्चित ही नये रूपों का सर्जन करने वाली शक्ति है। आगे चलकर नये रूप ही नई संज्ञा से अभिभूषित हो जाते हैं, अतः इस दृष्टि से कल्पना को नई संज्ञाओं या नये पदार्थों की भी आविष्कारिणी शक्ति माना जा सकता है। अस्तु, कल्पना के स्वरूप की मर्यादा न तो इतनी व्यापक है कि उसे हम प्रत्येक मानसिक व्यापार की मूलाधार शक्ति मान सकें और न ही इतनी संकीर्ण है कि उसे केवल पुनरावृत्ति मात्र तक सीमित कर सकें, अपितु उसकी स्थिति इन दोनों के बीच की है, वह मस्तिष्क की एक ऐसी नव सर्जन-शक्ति है जो कि अनेक मानसिक प्रवृत्तियों को सहयोग प्रदान करती है।

### ६.३. कल्पना के अन्य लक्षण—

कल्पना के विभिन्न लक्षणों की विवेचना करते हुए, साहित्य-शास्त्रियों ने भी प्रायः उन्हीं विशेषताओं का आख्यान किया है जो कि पीछे मनोवैज्ञानिक अध्ययन में उल्लिखित हो चुकी हैं—अतः उनकी पुनरावृत्ति करना उचित नहीं होगा। फिर भी मक्षेप में कहा जा सकता है कि साहित्य-विवेचकों ने उसे मूल सर्जन-शक्ति, व्यक्ति की स्वेच्छा से प्रेरित क्रिया, आत्म चैतन्य युक्त, आत्मानुभव की क्षमता से परिपूर्ण, चेतन और अचेतन की संयोजक, व्यक्ति और विषय में संपर्क-स्थापक आदि रूपों में स्वीकार किया है। कहना न होगा कि ये सभी लक्षण मनोवैज्ञानिकों द्वारा निरूपित लक्षणों में समाविष्ट हो जाते हैं—अतः यहाँ अधिक विस्तार में पड़ना अनावश्यक होगा।

### ६.४. कल्पना और मन-तरंग (Fancy)—

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में कल्पना (Imagination) के साथ-साथ मन-तरंग

(Fancy) का भी विवेचन प्रायः होता रहा है। यद्यपि मूलतः दोनों को एक ही शक्ति की दो शाखाओं के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है, वहाँ इन दोनों के पारस्परिक अन्तर एवं महत्त्व के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर पर्याप्त वाद-विवाद होता रहा है। प्रारम्भ में ड्राइडन एवं कुछ अन्य साहित्यकारों ने मन-तरंग का कल्पना की अपेक्षा अधिक महत्त्व स्वीकार करते हुए इसे ही साहित्य-सर्जना का सारा श्रेय प्रदान किया था जबकि आगे चलकर स्थिति इससे सर्वथा विपरीत होगई।<sup>४</sup> अब विभिन्न चिन्तकों के द्वारा इन दोनों का अन्तर बहुत कुछ स्पष्ट किया जा चुका है, जो संक्षेप में इस प्रकार है।

(क) कल्पना अधिक गम्भीर एवं शक्तिशाली शक्ति होती है जबकि मन-तरंग उसकी अपेक्षा छिछली एवं शक्तिहीन होती है।<sup>५</sup>

(ख) कल्पना में नव-निर्माण की क्षमता बहुत अधिक होती है जबकि मन-तरंग स्मृति की भाँति पूर्व संचित तत्त्वों को उन्मुक्त रूप में पुनः प्रस्तुत करती है। अहाँ स्मृति में विभिन्न तत्त्व देश-काल से बँधे रहते हैं वहाँ मन-तरंग में उनसे मुक्त रहते हैं।<sup>६</sup>

(ग) कल्पना वैयक्तिक इच्छाओं से ऊपर उठ सकती है जबकि मन-तरंग प्रायः वैयक्तिक इच्छाओं से ही प्रेरित एवं परिचालित होती है।<sup>७</sup>

(घ) कल्पना अन्तर्मुखी होती है जबकि मन-तरंग बहिर्मुखी होती है।<sup>८</sup>

(ङ) कल्पना में ऐन्द्रिकता एवं भावानुभूति का पुट अधिक होता है जबकि मन-तरंग में बौद्धिक शुष्कता अधिक होती है।<sup>९</sup>

(च) कल्पना सूक्ष्म विषयों के मनन में प्रवृत्त होती रहती है जब कि मन-तरंग प्रायः स्थूल पदार्थों के ध्यान में मग्न रहती है।<sup>१०</sup>

(छ) कल्पना में वैयक्तिकता विनिष्टता और नवीनता की मात्रा मन-तरंग की अपेक्षा अधिक रहती है।<sup>११</sup>

(ज) कल्पना जीवन के किसी अंग का स्पष्ट, सजीव एवं परिपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर सकती है जबकि मन-तरंग में यह क्षमता बहुत न्यून होती है।<sup>१२</sup>

(झ) कल्पना मन-तरंग की अपेक्षा अधिक विकसित प्रक्रिया है।<sup>१३</sup>

(झ) कल्पना का लक्ष्य अधिक निश्चित एवं स्पष्ट होता है जबकि मन-तरंग प्रायः लक्ष्य-विहीन रूप में भटकती रहती है।<sup>१४</sup>

(ट) कल्पना के द्वारा प्रस्तुत विम्बों के पीछे निगूढ प्रतीकात्मक अर्थ भी निहित रहते हैं जबकि मन-तरंग में वाच्यार्थ के अतिरिक्त लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ प्रायः नहीं रहते।<sup>१५</sup>

4. Literary Criticism: A short history: By C. Brooks 1957, Page 388.

5-7. Same, Page 388.

8-9. English prose style: Herbert Read, Page 1251-26.

10. English prose style: Herbert Read, Page 126.

11. Same, Page 126.

12-15. The Poetic Pattern: By Robin skelten 1956, Page 110.

इस प्रकार दोनों के स्वरूप एवं महत्त्व में पर्याप्त अन्तर है, यह दूसरी बात है कि कई बार मन-तरंग अधिक गम्भीर रूप में विकसित होकर कल्पना में परिणत हो जाती है या कल्पना निर्यात्रित एवं कुठित हो जाने पर मन-तरंग के स्तर पर अवतरित हो जाती है। वस्तुतः साहित्य और जीवन में नव-सर्जन के द्वारा महत्त्वपूर्ण योग देने वाली शक्ति कल्पना ही है—मन-तरंग नहीं।

## ६.५. साहित्य-सर्जना में कल्पना का योग-दान—

साहित्य के सर्जन में कल्पना कई रूपों में योग-दान करती है, जिसे संक्षेप में निम्नांकित शीर्षकों में इस प्रकार बताया जा सकता है—

### (क) द्रव्य का चेतन-स्तर पर प्रस्तुतीकरण

साहित्यकार जिस द्रव्य-सामग्री (भाव और विचार) का उपयोग साहित्य में करता है वह प्रायः उसके अवचेतन एवं अचेतन स्तर पर संस्कारों, बिम्बों, एवं प्रत्ययों के रूप में विद्यमान रहती है। साहित्य-सृजन के लिये इस द्रव्य को चेतन-स्तर पर लाना आवश्यक होता है। यह कार्य स्मृति और कल्पना—दोनों के द्वारा संपादित हो सकता है किन्तु साहित्यिक रचना में स्मृति की अपेक्षा कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री ही अधिक उपयुक्त होती है। इसके कई कारण हैं। एक तो स्मृति का सम्बन्ध बौद्धिक सामग्री एवं शुष्क तथ्यों से अधिक होता है जो कि साहित्य में बहुत कम मात्रा में प्रयुक्त होते हैं। दूसरे, स्मृति अवचेतन स्तर के बहुत ऊपरी तथ्यों को ही प्रस्तुत कर पाती है, अवचेतन एवं अचेतन की गहरी घाटियों में निहित गूढ़ सामग्री तक स्मृति की पहुँच नहीं होती जबकि साहित्य के लिये यही सामग्री अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। तीसरे, स्मृति तथ्यों की यथावत् पुनरावृत्ति कर देती है, वह उन्हें कल्पना की भाँति नये रूपों में प्रस्तुत नहीं कर पाती। चौथे, स्मृति द्वारा प्रस्तुत द्रव्य में साहित्य के लिये अपेक्षित निर्वैयक्तिकता नहीं आ पाती जबकि कल्पना में ऐसा होना है। पाँचवें, कल्पना में द्रव्य को रमणीय बनाने की जितनी क्षमता है, उतनी स्मृति में नहीं। यही कारण है कि साहित्यकार स्मृति की अपेक्षा कल्पना का अधिक उपयोग करता है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह स्मृति की बिल्कुल उपेक्षा करता है। वह गौण रूप से स्मृति का भी उपयोग यदा-कदा करता है, विशेषतः आत्म-कथा, जीवन एवं इतिहास सम्बन्धी रचनाओं में। किन्तु प्रमुखता कल्पना शक्ति की ही रहती है।

### (ख) द्रव्य का विस्तार

कल्पना शक्ति द्रव्य को न केवल प्रस्तुत करती है अपितु वह उसका विश्लेषण करती हुई उसे विस्तृत रूप भी देती है। उदाहरण के लिये, हमारे सामने एक तथ्य

है ; 'एक युवक और एक युवती ने होटल में खाना खाया ।' यदि हम इस तथ्य को लेकर साहित्य-रचना करना चाहे तो हमें 'युवक' 'युवती' 'होटल' 'खाना' इन सबका विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना पड़ेगा । युवक और युवती के शारीरिक रूप-रंग, उनकी वेश-भूषा, उनकी चाल-ढाल और व्यवहार और उनके आपसी सम्बन्ध के अतिरिक्त होटल का पूरा दृश्य और खाने को विस्तृत चर्चा—यह सब देना पड़ेगा । यह सारा कार्य हमें कल्पना-शक्ति के द्वारा ही करना पड़ेगा । कल्पना के बल पर ही हम उन दोनों व्यक्तियों के नख-शिख से लेकर उनके हृदय की अनुभूतियों का विस्तृत चित्र प्रस्तुत कर सकेंगे—भले ही हम उनके बारे में अधिक कुछ नहीं जानते । इस प्रकार कल्पना प्राप्त सामग्री का विश्लेषण करती हुई उसे विस्तृत रूप प्रदान करती है जिससे कि वह साहित्यिक वैभव से संपन्न हो सके ।

### (ग) नये द्रव्य का आविर्भाव

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि कल्पना प्राप्त द्रव्य को विस्तृत रूप प्रदान करती है, किन्तु इतना ही नहीं, वह उस द्रव्य में स्वनिर्मित द्रव्य या नये द्रव्य का संयोग या मेल भी करती है । एक घटना के बाद अगली घटना क्या होगी या क्या हो सकती है, या इससे पूर्व क्या हो चुकी होगी—इसका निर्देश कल्पना शक्ति ही करती है । होटल में बैठे हुए उक्त दोनों व्यक्ति पहले कहाँ रहे होंगे और आगे कहाँ जायेंगे—इस सबका पता लगाना कल्पना-शक्ति का ही कार्य है । वस्तुतः साहित्यकार जिन नये व्यक्तियों, पात्रों, घटनाओं आदि का चित्रण करता है वे प्रायः कल्पना शक्ति की ही देन होते हैं । अतः निश्चित ही नव-सर्जन का श्रेय मुख्यतः कल्पना को दिया जाना चाहिए ।

### (घ) द्रव्य को अनुभूतिगम्य बनाना

कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह प्रायः अनुभूतिगम्य होती है । जहाँ मस्तिष्क की अन्य शक्तियाँ—बुद्धि, स्मृति आदि—अनुभवों को तथ्यों और विचारों के रूप में प्रस्तुत करती हैं किन्तु वे सहज ही अनुभूतिगम्य नहीं होते जबकि कल्पना उन्हें मुख्यतः बिम्बों या सजीव चित्रों या अनुभूतिपूर्ण शब्दों में व्यक्त करती है जिससे वे हमारी इन्द्रियों को प्रभावित करते हुए मन को आकर्षित कर लेते हैं । इस सम्बन्ध में आगे 'बिम्ब-सिद्धान्त' के अन्तर्गत अधिक प्रकाश डाला गया है—यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कल्पना द्रव्य को एक ऐसा नया रूप प्रदान करती है जिससे कि वह अनुभूतिगम्य हो सके । इस दृष्टि से कह सकते हैं कि कल्पना-शक्ति न केवल नये द्रव्य का सर्जन एवं विस्तार करती है अपितु उसे नया रूप और नयी शैली प्रदान करने का श्रेय भी उसे ही है ।

### (ड) देश-काल एवं व्यक्ति के सम्बन्धों से मुक्ति

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, कल्पना के द्वारा प्रस्तुत सामग्री सामान्यतः देश-काल और व्यक्ति के सम्बन्धों से मुक्त होती है। कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री स्मृत तथ्यों की भाँति यथा तथ्य एव देश-काल की सीमाओं से बँधी नहीं रहती—इसी लिये वह सर्व-सामान्य के लिये स्वीकार्य एव रुचिकर बन पती है। उदाहरण के लिये, यदि सोलहवीं शताब्दी का कोई व्यक्ति यह कहे कि मैं वायुयान में बैठकर हवा में उड़ा था, तो उसका यह कथन हमारे लिए अविश्वमनीय एव अरुचिकर सिद्ध होगा। किन्तु यदि वह इसके स्थान पर यह लिखता है—“क्या ही अच्छा हो यदि मैं पक्षियों की भाँति आसमान में मुक्त रूप से विचरण कर सकूँ।”—तो यह हमारे लिये—या किसी के लिये—अरुचिकर नहीं होगा क्योंकि यहाँ तथ्य और विचार नहीं, अपितु कल्पना है। पाश्चात्य विज्ञान साहित्य में जिस निर्व्यक्तिकता की तथा भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुयायी जिस साधारणीकरण की चर्चा करते हैं—वह वस्तुतः कल्पना शक्ति के इसी कार्य का परिणाम है। साहित्य में प्रस्तुत अनुभूतियाँ एक व्यक्ति की अनुभूतियाँ न रह कर सर्व-साधारण की अनुभूतियाँ बन जाती हैं—यह साधारणीकरण ऐसी अनुभूतियों के कारण ही होता है जो कि कल्पना के द्वारा देश-काल के बंधनों से मुक्त हो चुकी होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कल्पना-शक्ति साहित्य की शेष सामग्री (भाव और विचार) को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसका विस्तार, अभिवृद्धि, रूप-परिवर्तन एवं साधारणीकरण भी करती है। इसी लिये अनेक पाश्चात्य आलोचकों ने कल्पना को साहित्य की आदि शक्ति या उसकी आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। निश्चित ही साहित्य-सर्जन में कल्पना का अत्यधिक महत्त्व है किन्तु फिर भी उसे हम साहित्य की एक मात्र शक्ति के रूप में मान्यता नहीं दे सकते, क्योंकि अन्ततः कल्पना साहित्य की साधिका ही है, साध्या नहीं। प्रत्येक प्रकार की कल्पना या कल्पना का प्रत्येक कार्य साहित्य-रचना का पर्याय नहीं है। केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की विशिष्ट कल्पनाएँ ही साहित्य का सर्जन कर पाती हैं—सभी व्यक्तियों की कल्पनाएँ नहीं। दूसरे, कल्पना से केवल साहित्य-सर्जन ही नहीं होता; दिवा-स्वप्नों और हत्या के षड-यंत्रों से लेकर बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार भी कल्पना पर ही आधारित होते हैं—अतः कल्पना शक्ति को केवल साहित्य तक सीमित कर देना या साहित्य को केवल कल्पना पर ही आधारित घोषित कर देना उचित नहीं। इस सम्बन्ध में हम अधिक विवेचन अन्यत्र कर चुके हैं; यहाँ कल्पना-सिद्धान्त के सबसे बड़े पृष्ठ-पोषक श्री टी० एस० कालरिज के शब्दों में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि “सभी प्रकार के काव्य (साहित्य) का सामान्य सार-तत्त्व ऐसे भावोद्वेलन में निहित है जो कि तात्कालिक प्रसन्नता के उद्देश्य से सौन्दर्य (या आकर्षण ?) के माध्यम से उपलब्ध

होता है।<sup>१६</sup> निश्चित ही कल्पना-शक्ति साहित्य को ऐसा आकर्षक रूप प्रदान करने में सहायक सिद्ध होती है जिससे कि पाठक को प्रसन्नता एवं आनन्द की अनुभूति प्राप्त हो सके और उसी स्थिति में 'कल्पना' को सफल साहित्यिक कल्पना माना जा सकता है, अन्यथा नहीं।

### ६.६. कल्पना-प्रधान साहित्य—

जिस प्रकार भाव या विचार तत्त्व की प्रमुखता के आधार पर हम साहित्य को भाव-प्रधान या विचार-प्रधान कह सकते हैं, वैसे ही उसमें कल्पना तत्त्व की प्रमुखता होने पर उसे 'कल्पना-प्रधान' कह सकते हैं। सामान्यतः साहित्य में कल्पना भावानुभूतियों से प्रेरित एवं तथ्यों या विचारों पर आधारित होती है, किन्तु कल्पना-प्रधान साहित्य में ऐसा नहीं होता। उसमें कल्पना का लक्ष्य किसी विशेष भाव या विचार को प्रस्तुत करना तो होता है किन्तु वह इनके प्रभाव एवं बन्धन से मुक्त होती है। उदाहरण के लिए निम्नांकित दोहा द्रष्टव्य है—

सुनत पथिक मुँह माह निसि चलत लुवै उह गाम ।

बिनु बूझै बिनु ही कहै जियत विचारी बाम ॥

—बिहारी

उपर्युक्त दोहे में न तो अनुभूति की प्रेरणा ही परिलक्षित होती है और न ही इसका आधारभूत विचार ही सत्य या वास्तविक है; कवि का लक्ष्य अवश्य विरहानुभूति की जलन को व्यक्त करना है, किन्तु वह इसमें सफल नहीं हो सका। वस्तुतः इस दोहे में कल्पना की ही प्रमुखता है, अतः इसे 'कल्पना-प्रधान' साहित्य के एक नमूने के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

### ६.७. कल्पना-प्रधान साहित्य की तीन प्रवृत्तियाँ—

कल्पना-प्रधान साहित्य को मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम वर्ग—जिसमें प्रस्तुत का ही वर्णन मुख्यतः हुआ है; द्वितीय वर्ग—जिसमें अप्रस्तुत का आश्रय लिया गया हो। प्रथम वर्ग के भी दो उपभेद किये जा सकते हैं—(१) रूप-प्रधान (२) क्रिया या घटना-प्रधान। इस प्रकार कल्पना-प्रधान साहित्य के तीन प्रमुख भेद किये जा सकते हैं तथा इनके आधार पर उसकी निम्नांकित तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ निर्धारित की जा सकती हैं—

16. "The Common essence of all consists in the excitement of emotion for the immediate purpose of pleasure through the medium of beauty."

—T. S. Coleridge : on the principles of genial criticism (Biographia Literaria Part II, Page 220).

(१) बिम्बात्मकता की प्रवृत्ति—प्रस्तुत विषय के रूप-चित्रण में मुख्यतः रूप-रंग, आकारादि का वर्णन किया जाता है जिससे उसमें बिम्बों की बाढ़ आ जाती है, किन्तु अनुभूति के अभाव में ये बिम्ब काव्यात्मक आकर्षण उत्पन्न करने में असमर्थ रहते हैं ; उदाहरण के लिए निम्नांकित दोहा द्रष्टव्य है—

भाल लाल बेंदी ललन आखत रहै बिराजि ।

इन्दुकला कुज में बसी, मनौ राहु भय भाजि ॥

(२) अत्युक्ति या अस्वाभाविकता की प्रवृत्ति—घटनाओं एवं क्रिया-कलाप के निरूपण में जब साहित्यकार अनुभूति एवं विचार की अवहेलना करता हुआ कोरी कल्पना का आश्रय ग्रहण करता है तो उसका वर्णन प्रायः अत्युक्ति एवं अस्वाभाविकता की सीमा को पार कर जाता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का वर्णन आकर्षक न होकर हास्यास्पद हो जाता है, जैसा कि निम्नांकित दोहों में हुआ है—

इत आवति चलि, जाति उत चली छ सातक हाथ ।

चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै लगी उसासनु साथ ॥

सुनत पथिक मुंह माह-निसि चलत लुवै उहि गाम ।

बिन बुझैं बिनु ही कहैं जियति विचारी बाम ॥

(३) अप्रस्तुत-पक्ष की प्रधानता—जब साहित्यकार शैली पक्ष को अधिक प्रभावशाली बनाने का प्रयास करता है तो उसमें अप्रस्तुत-पक्ष का समावेश हो जाता है। कहीं-कहीं तो यह समावेश इस सीमा तक हो जाता है कि जिससे अप्रस्तुत के समक्ष प्रस्तुत गौण या उपेक्षित रह जाता है ; इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

बरुनी का बरनौ इमि बनी ।

साधे बान जानु दुइ अनी ॥

जुरी राम-रावन कै सेना ।

बीच समुद्र भए दुइ नैना ॥

—पद्मावत

उपर्युक्त अंश में राम-रावण सम्बन्धी विषय अप्रस्तुत है किन्तु उसकी कल्पना ने प्रस्तुत (बरुनियों के वर्णन) को आच्छादित कर लिया है। अप्रस्तुत का लक्ष्य प्रस्तुत की अनुभूति में योग देना होता है जबकि यहाँ वह उसमें बाधक सिद्ध हो रहा है।

अस्तु, उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ कल्पना-प्रधान साहित्य के दुर्बल पक्ष का उद्घाटन करती हुई उसके दोषों को सूचित करती हैं। वस्तुतः तथ्य एवं अनुभूति के अभाव में कोरी कल्पना साहित्य-रचना में असफल सिद्ध होती है, अतः ये प्रवृत्तियाँ दूषित एवं त्याज्य मानी जा सकती हैं।

## ६.८. कल्पना-प्रधान साहित्य और आकर्षण-शक्ति—

आकर्षण-शक्ति की दृष्टि से कल्पना का बहुत महत्त्व है किन्तु यह उसी स्थिति में है जबकि वह तथ्यों पर आधारित या अनुभूति से संवलित हो—अन्यथा कोरी कल्पना आस्वाभाविक उक्तियों एवं असंभव स्वप्नों के निर्माण में प्रवृत्त हो जायगी। अतः कोई रचना चाहे कितनी ही कल्पना-प्रधान क्यों न हो—यदि वह साहित्य में स्थान देने लायक है तो उसमें भाव और विचार का न्यूनाधिक समावेश अवश्य रहेगा। भाव और विचार में से जिस तत्त्व का अधिक मिश्रण होगा उसी के अनुरूप उसमें भावात्मक आकर्षण या बौद्धिक आकर्षण की क्षमता उत्पन्न होगी। इसी प्रकार जब कल्पना-प्रधान साहित्य में रूप-रंगादि के बिम्बों की प्रमुखता होती है तो उससे ऐन्द्रिक आकर्षण की भी सृष्टि हो सकती है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि कल्पना-प्रधान साहित्य का सम्बन्ध आकर्षण शक्ति के तीनों भेदों से ही है—जहाँ जिस तत्त्व की अधिकता होती है उसके अनुकूल उसकी शक्ति एवं प्रकृति में अन्तर आ जाता है। अतः कल्पना शक्ति का किसी एक प्रकार के आकर्षण से ही दृढ़ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।



परिशिष्ट क—

## साहित्य-विज्ञान : सारांश



‘साहित्य-विज्ञान’ के तीन खंडों में क्रमशः साहित्य की शक्ति, साहित्य के द्रव्य और साहित्य के रूप का विवेचन विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया जा चुका है। यहाँ हम तीनों खंडों में उपलब्ध निष्कर्षों को कतिपय शीर्षकों के अन्तर्गत संक्षिप्त एवं संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

‘साहित्य-विज्ञान’ की स्थापना—यद्यपि हमारे पास परंपरागत साहित्य-शास्त्र के रूप में साहित्य-सिद्धान्तों का एक विशाल कोष विद्यमान है किन्तु अनेक कारणों से वह आज की परिवर्तित परिस्थितियों में बहुत-कुछ अनुपयोगी, अव्यावहारिक एवं प्रभाव-हीन हो गया है। एक तो आधुनिक युग में हमारी बौद्धिक चेतना का केन्द्र एवं हमारी आस्था का आधार विज्ञान हो गया है जबकि परम्परागत साहित्य-शास्त्र धर्म और दर्शन की मान्यताओं पर आधारित है। दूसरे, परंपरागत साहित्य-शास्त्र में शास्त्र-रचयिताओं के वैयक्तिक आग्रह के कारण किसी भी विषय के सम्बन्ध में कोई एक निश्चित या सर्व-सम्मत मत नहीं मिलता। विभिन्न संप्रदायों के विद्वान एक ही तथ्य और तत्त्व की व्याख्या अपने-अपने दृष्टिकोण से करते हुए उस पर अपना-अपना अधिकार सिद्ध करते हैं। फलतः परम्परागत साहित्य-शास्त्र में एक ही प्रश्न के अनेक उत्तर, एक ही समस्या के अनेक हल या एक ही विवाद के सम्बन्ध में अनेक निर्णय उपलब्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में इसके सिद्धान्तों का अनिश्चित, अव्यावहारिक एवं अप्रामाणिक हो जाना स्वाभाविक है। सर्व-सम्मत सिद्धान्तों के अभाव में साहित्य के क्षेत्र में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो रही है, अतः इस स्थिति को नियंत्रित एवं सुशासित करने के लिए एक प्रामाणिक साहित्य-शास्त्र की नितान्त आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक पाश्चात्य विद्वानों—सैंट व्यव, तेन, आर० जी० मौल्टन, जे० एम० राबर्टसन, आई० ए० रिचर्ड्स, हरबर्ट डिगले, मार्टिन जोन्सन आदि—ने साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास किया है किन्तु उन्हें इसमें अधिक सफलता नहीं मिल पाई। हमारे विचार से इनकी असफलता के

कुछ कारण ये हैं—(१) इन्होंने साहित्य के किसी एक पक्ष या अवयव को ही लेकर विशृंखलित रूप में विचार किया। (२) उन्होंने साहित्य की विषय-वस्तु एवं उसके बाह्य रूपों को ही ध्यान में रखा, उसकी मूल शक्ति की विल्कुल उपेक्षा कर दी। (३) इनके दृष्टिकोण में एकांगिता थी। (४) नव उपलब्ध निष्कर्षों को भी परस्पर समन्वित एवं संश्लिष्ट रूप नहीं दिया गया। (५) परंपरागत ज्ञान की सर्वथा उपेक्षा की गई। (६) इनकी प्रतिपादन-शैली दुरूह एवं जटिल है।

हमने भी साहित्य के सिद्धान्तों को शुद्ध, प्रामाणिक एवं निश्चित रूप प्रदान करने के उद्देश्य से ही परंपरागत साहित्य-शास्त्र को नये रूप में—‘साहित्य-विज्ञान’ के रूप में—प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। इसमें विवेचन का दृष्टिकोण, विवेचन का आधार एवं विवेचन की पद्धति—तीनों ही वैज्ञानिक हैं जिससे कि उपलब्ध निष्कर्षों में विज्ञान की सी प्रामाणिकता एवं निश्चितता आ सके। किन्तु इस वैज्ञानिकता के निर्वाह के साथ-साथ हमने इस बात का भी पूरा ध्यान रखा है कि कहीं हम भी वे भूलें न कर बैठें जिनके कारण पूर्ववर्ती विद्वानों के प्रयास असफल सिद्ध हुए हैं। इसीलिए ‘साहित्य-विज्ञान’ में कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं जिनका पूर्ववर्ती प्रयासों में अभाव था; जैसे, (१) साहित्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसके तीनों पक्षों—शक्ति, द्रव्य एवं रूप—पर विचार किया गया है। (२) सारे विवेचन को योजना बद्ध एवं व्यवस्थित रूप प्रदान करते हुए एक स्वतंत्र विषय—साहित्य-विज्ञान—के रूप में प्रस्तुत किया गया है। (३) प्रत्येक तथ्य पर विचार करते हुए परंपरागत साहित्य-शास्त्र के भी तत्सम्बन्धी निर्णयों को ध्यान में रखा गया है तथा उन्हें संशोधित करते हुए उनके औचित्य के अनुसार उन्हें स्वीकार किया गया है। (४) इसमें आवश्यकतानुसार सभी सम्बन्धित विषयों की सामग्री का उपयोग किया गया है। (५) विवेचन-शैली को दुरूहता एवं अस्पष्टता से बचाने का पूरा प्रयास किया गया है।

इन विशेषताओं के कारण प्रस्तुत प्रयास कितना सफल हो सका है, इसका निर्णय तो भविष्य में ही हो सकेगा, फिर भी इतना निश्चित है कि इसके कारण साहित्य के वैज्ञानिक विवेचन के लिए एक स्वतंत्र क्षेत्र एवं एक निश्चित मार्ग प्राप्त होगया है—भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान आदि की भाँति साहित्य-विज्ञान भी वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बन्धित एक नये विषय के रूप में प्रतिष्ठा एवं मान्यता प्राप्त करेगा—ऐसी आशा करना अनुचित नहीं है।

(२) साहित्य की परिभाषा—साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन आरंभ करते ही सबसे पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि साहित्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में परंपरागत साहित्य-शास्त्र से शताधिक परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं किन्तु इससे मूल समस्या का समाधान नहीं होता, प्रत्युत् एक नई समस्या उपस्थित हो जाती है कि इनमें से किसे स्वीकार करें और किसे नहीं। इन परिभाषाओं पर आलोचनात्मक

दृष्टि से विचार करने पर यह भी स्पष्ट होता है कि ये सभी अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष से युक्त हैं। किन्तु फिर भी इन्हें हम ठुकरा नहीं सकते क्योंकि इनमें आंशिक असत्य के साथ-साथ आंशिक सत्य भी विद्यमान है। वैज्ञानिक का कार्य यह है कि वह सत्य को ग्रहण कर ले और असत्य को त्याग दे। इन परिभाषाओं के भी अन्तर्निहित सत्य को असत्य से पृथक् करने के लिए इन सबका विश्लेषण तीन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(१) साहित्य का माध्यम क्या है? (२) साहित्य का आधारभूत तत्त्व क्या है? (३) साहित्य का लक्ष्य क्या है?

विभिन्न परिभाषाओं द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विश्लेषण उपर्युक्त शीर्षकों के अन्तर्गत किये जाने से साहित्य के तीन सामान्य लक्षणों पर प्रकाश पड़ता है—(१) साहित्य का माध्यम भाषा है। (२) साहित्य के अर्थ-बोध से सौन्दर्य या आकर्षण की अनुभूति होती (३) साहित्य का लक्ष्य सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति को आनन्द प्रदान करना है। इन लक्षणों का समन्वय करते हुए साहित्य की नयी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—साहित्य भाषा के माध्यम से रचित वह सौन्दर्य या आकर्षण से युक्त रचना है जिसके अर्थ-बोध से सामान्य व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है। हमारे विचार से यह परिभाषा अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोष से मुक्त है।

(३) साहित्य की आत्मा या शक्ति—किसी पदार्थ का वैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए सामान्यतः तीन पक्षों—शक्ति (Energy), द्रव्य (Matter) और रूप (Form)—में विभाजित कर लिया जाता है। हम भी इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए सर्व प्रथम साहित्य की शक्ति पर विचार सकते हैं। साहित्य की शक्ति से हमारा अभिप्राय साहित्य की उस विशेषता से है जिसके कारण साहित्य 'साहित्य' कहलाता है या जिसके अभाव में कोई भी रचना 'साहित्य' नहीं कही जा सकती। इसी विशेषता का अनुसंधान प्राचीन आचार्यों ने 'साहित्य की आत्मा' शीर्षक के अन्तर्गत किया है। इस दृष्टि से साहित्य के प्रसंग में 'आत्मा' या 'शक्ति' दोनों एक ही विशेषता की परिचायक हैं। अतः साहित्य की शक्ति पर स्वतंत्र रूप से विचार करने के पूर्व यह उचित है कि हम तत्सम्बन्धी परंपरागत मतों का भी अनुशीलन करें। इस सम्बन्ध में हम इन मतों पर विचार कर सकते हैं—(क) भारतीय मत—(१) रस (२) अलंकार (३) रीति (४) ध्वनि (५) वक्रोक्ति (६) औचित्य। (ख) पाश्चात्य मत—(१) अनुकृति (२) औचित्य (३) अलंकृति (४) औदात्य (५) कल्पना। इन मतों की परीक्षा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनमें से कोई भी मत साहित्य की शक्ति के रूप में स्वीकार्य नहीं है।<sup>१</sup> उदाहरण के लिए 'रस' को काव्य की आत्मा बताया गया है किन्तु वस्तुतः यह काव्यजन्य आनन्द है

जिसका आविर्भाव पाठक के हृदय में होता है जबकि काव्य की आत्मा का निवास किसी इतर पदार्थ में न होकर स्वयं काव्य में होना चाहिए। इस दृष्टि से रस काव्य की आत्मा या शक्ति नहीं है अपितु उस शक्ति का कार्य, फल या उत्पादन है—ऐसी स्थिति में उसे काव्यात्मा के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार अलंकार, रीति, वक्रोक्ति एवं ध्वनि आदि संप्रदायों में भी इन तत्त्वों को क्रमशः काव्यात्मा घोषित किया गया है जबकि दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया गया है कि अलंकार से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है तथा रीति वक्रोक्ति या ध्वनि से काव्य में शोभा, चारुता या रमणीयता का आविर्भाव होता है। यदि हम सौन्दर्य, शोभा, चारुता, रमणीयता—इन सब शब्दों का समन्वय केवल एक ही शब्द—आकर्षण—में कर लें तो कहा जा सकता है कि ये सब तत्त्व काव्यगत आकर्षण के साधन हैं, इन सबका साध्य आकर्षण है। ऐसी स्थिति में हम साधनों की अपेक्षा साध्य को अधिक महत्त्व देते हुए आकर्षण को ही काव्य की शक्ति या आत्मा तथा शेष सबको उस शक्ति के विभिन्न साधनों के रूप में स्वीकार कर लें तो अनुचित नहीं होगा। शेष मतों के परीक्षण से भी यह सिद्ध होता है कि जब तक काव्य में आकर्षण-शक्ति का संचार नहीं होता, तब तक अन्य कोई भी तत्त्व—औचित्य, अनुकृति, अलंकृति, औदात्य, कल्पना आदि—काव्य की काव्यात्मकता का स्थानापन्न नहीं हो सकता। ‘दो और दो चार होते हैं’ यह उक्ति औचित्य से युक्त है; ‘मनुष्य रात्रि में शयन करते हैं तथा दिन में कार्य करते हैं’—इस उक्ति में लौकिक जीवन की सही अनुकृति है; ‘शकुन्तला चाँद सी सुन्दर है’ इसमें अलंकृति के सभी उपकरण विद्यमान हैं; ‘हमें सत्य और न्याय के लिए आत्म-बलिदान कर देना चाहिए’—इसमें औदात्य का अस्तित्व है; ‘मैं पंख लगाकर आसमान में उड़ जाऊँ’ इसमें कल्पना की उड़ान झलकती है, फिर भी आकर्षण के अभाव में हम इनमें से किसी भी उक्ति को काव्यात्मक या साहित्यिक उक्ति नहीं मान सकते। अतः ये सब तत्त्व साहित्य के लिए उपयोगी तो माने जा सकते हैं किन्तु इनमें से किसी को भी साहित्य की शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। साहित्य की आत्मा या शक्ति तो वस्तुतः आकर्षण शक्ति ही है।

साहित्य की शक्ति के रूप में आकर्षण-शक्ति की प्रतिष्ठा के लिए परम्परागत साहित्य-शास्त्रीय मतों के उपर्युक्त विश्लेषण के अतिरिक्त हम कुछ और आधारों को भी अपनाना उचित समझते हैं। अतः इसके लिए सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान एवं आधुनिक विज्ञान से सम्बन्धित कतिपय विषयों का अध्ययन अपेक्षित है। विभिन्न विषयों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आकर्षण-शक्ति का केवल एक ही रूप और एक ही क्षेत्र नहीं है; विश्व में शक्ति के जितने रूप और क्षेत्र हैं उन सभी में आकर्षण-शक्ति का अस्तित्व मिलता है। शक्ति की सामान्यतः दो अवस्थाएँ होती हैं—मुष्पत्ति एवं जागृति। जहाँ भी शक्ति जागृत होकर कार्य करती

है, वहाँ वह सदा आकर्षण-विकर्षण के रूप में ही कार्य करती है; अतः शक्ति को आकर्षण-शक्ति या विकर्षण-शक्ति का भी नाम दिया जा सकता है। आकर्षण और विकर्षण एक ही क्रिया के दो पक्ष हैं—अतः इनमें से कोई एक नाम भी स्वीकार किया जा सकता है। आकर्षण शक्ति के विभिन्न रूप भौतिक विज्ञान में गुरुत्वाकर्षण-शक्ति, चुम्बक शक्ति, विद्युत् शक्ति, परमाणु शक्ति आदि हैं तो जीव-विज्ञान में नर-मादा के प्रथम संपर्क से लेकर प्रथम जीव-कोष के निर्माण, भ्रूण के विकास, विभिन्न शारीरिक संस्थानों के संचालन, एवं जीवन-पर्यन्त होने वाली विभिन्न शारीरिक प्रक्रियाओं तक सब में आकर्षण शक्ति का अस्तित्व मिलता है। इसी प्रकार मानसिक क्षेत्र में भी हमारी समस्त ऐन्द्रिक, भावात्मक एवं बौद्धिक प्रक्रियाओं के मूल में आकर्षण शक्ति विद्यमान है। यह विचित्र बात है कि विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न स्तरों पर आकर्षण-शक्ति विभिन्न प्रकार के माध्यमों से कार्य करती है किन्तु कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो भौतिक-विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक आकर्षण-शक्ति के सभी रूपों में समान रूप से पाई जाती है। हमारी अनुसंधान के अनुसार निम्नलिखित आठ प्रवृत्तियाँ ऐसी ही हैं—

- (१) शक्ति सदा आकर्षण-विकर्षण की प्रक्रियाओं के रूप में कार्य करती है।
- (२) शक्ति का संगठन त्रिगुणात्मक तत्त्वों के रूप में होता है जिन्हें सामान्यतः धनात्मक (Positive) ऋणात्मक (Negative) एवं उभयात्मक (Neutral) कहा जा सकता है।
- (३) शक्ति के धनात्मक जाति एवं ऋणात्मक जाति के तत्त्वों में परस्पर आकर्षण रहता है जबकि स्वजाति के प्रति विकर्षण रहता है। उभयात्मक तत्त्व आकर्षण-विकर्षण से मुक्त रहते हैं। इस दृष्टि से इन तीनों वर्गों के तत्त्वों को रोचक शैली में क्रमशः नर, मादा और नपुंसक जाति के तत्त्वों की भी संज्ञा दी जा सकती है।
- (४) शक्ति की दो अवस्थाएँ हैं—जागृति एवं सुषुप्ति। जब शक्ति के त्रिगुणात्मक तत्त्व परस्पर संतुलित रहते हैं तो शक्ति सुषुप्त रूप में रहती है जबकि उनका संतुलन भंग होने पर शक्ति जागृत एवं सक्रिय हो जाती है।
- (५) सक्रिय अवस्था में शक्ति या आकर्षण-शक्ति चार प्रक्रियाओं में अपना कार्य संपादित करती है—संयोजन, संप्रेषण, द्रवण, और अभिव्यक्ति।
- (६) आकर्षण-शक्ति विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में कार्य करती है।
- (७) आकर्षण-शक्ति सदा वक्र एवं चक्राकार गति से आगे बढ़ती है।
- (८) शक्ति का लक्ष्य सदा अपूर्णता से पूर्णता की ओर, वैषम्य से साम्य की ओर तथा असंतुलन से संतुलन की ओर आगे बढ़ने का होता है।

उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियाँ साहित्य की आकर्षण-शक्ति में भी मिलती हैं।<sup>२</sup> इस दृष्टि से विश्व में व्याप्त आकर्षण-शक्ति से साहित्य की आकर्षण-शक्ति भिन्न नहीं है अपितु उसी का एक परिवर्तित रूप है। शक्ति के शेष रूपों से इसकी विशेषता या भिन्नता

यह है कि एक तो इसका स्तर मानसिक होता है और दूसरे उसका माध्यम भाषा होती है। जब मानसिक स्तर की आकर्षण-शक्ति भाषा के स्थान पर अन्य माध्यमों से व्यक्त होती है तो वह विभिन्न कलाओं—चित्र, संगीत, नृत्य आदि—का रूप धारण करती है।

अस्तु, साहित्य में आकर्षण-शक्ति के अस्तित्व का समर्थन एक ओर परम्परागत साहित्य-शास्त्र से एवं दूसरी ओर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित आकर्षण-सिद्धान्त से हो जाता है। इनके अतिरिक्त हमने एक तीसरा प्रमाण और प्रस्तुत किया है। वह यह है कि प्रायः सभी युगों के साहित्याचार्यों ने साहित्य की, व्याख्या, विवेचना एवं आलोचना करते हुए अनायास ही 'आकर्षण' या 'आकर्षण-शक्ति' संज्ञा का प्रयोग साहित्य की विशिष्ट क्षमता के लिए किया है। यद्यपि परंपरागत साहित्य-शास्त्र में इस नाम का कोई सिद्धान्त या तत्त्व उपलब्ध नहीं होता फिर भी सहज रूप में ही इसका उल्लेख करके इन आचार्यों ने आकर्षण सिद्धान्त को अप्रत्यक्ष रूप में मान्यता दे दी है। यह विचित्र बात है कि जहाँ रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकरण, अनुकृति, औचित्य आदि के प्रसंग में इन विद्वानों में परस्पर मत-भेद मिलता है, वहाँ आकर्षण के प्रसंग में इन्होंने मतैक्य का परिचय दिया है। वस्तुतः यह तथ्य आकर्षण-तत्त्व की व्यापकता एवं सार्वजनीनता सिद्ध करता है।

साहित्य की आकर्षण-शक्ति के विभिन्न स्तरों के आधार पर उसके तीन भेद किये जा सकते हैं—(१) भावात्मक आकर्षण (२) बौद्धिक आकर्षण एवं (३) ऐन्द्रिक आकर्षण। ये तीनों भेद मूलतः साहित्यिक रचना की विषय-वस्तु की प्रकृति एवं उसके प्रभाव की विशेषता को सूचित करते हैं। साहित्य की उच्चता एवं गंभीरता की दृष्टि से ये तीनों प्रकार साहित्य की उत्कृष्टता के भी क्रमशः तीन स्तरों—सर्वोच्च स्तर, उच्च स्तर एवं मध्यम स्तर—के सूचक माने जा सकते हैं।

(४) साहित्य का द्रव्य या वस्तु-तत्त्व—शक्ति का निवास द्रव्य में रहता है, अतः शक्ति और द्रव्य में भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। यह बात साहित्य पर भी लागू होती है। साहित्य का आधारभूत द्रव्य मानसिक स्तर का होता है जिसे मुख्यतः तीन तत्त्वों—भाव (अनुभूति), विचार (तथ्य) और कल्पना के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है। इन तत्त्वों की व्याख्या आधुनिक मनोविज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र एवं परम्परागत साहित्य-शास्त्र में भी विभिन्न दृष्टिकोणों से हुई है, अतः इनके अधिक विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण के लिए इन विषयों से भी सहायता ली जा सकती है। भाव तत्त्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या से स्पष्ट है कि इसके व्यापक अर्थ में अनुभूति, भाव, मनोदशा, भावना, भावात्मक दृष्टिकोण, स्वभाव आदि विभिन्न मानसिक तत्त्व आते हैं, जबकि संकीर्ण अर्थ में इसका सम्बन्ध केवल भावावेग (Emotion) से ही है। इस सम्बन्ध में दूसरा तथ्य यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न भाव मूलतः आकर्षण-विकर्षण के ही विभिन्न विकसित रूप हैं। शुद्ध आकर्षण-विकर्षण

में और विभिन्न विकसित भावों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ विभिन्न भाव अहं से मिश्रित होते हैं जबकि शुद्ध आकर्षण-विकर्षण में ऐसा नहीं होता । काव्यगत आकर्षण-विकर्षण और लौकिक भावों में इसी अन्तर के कारण दोनों की अनुभूतियों में अन्तर आ जाता है ; जहाँ काव्यानुभूति सर्वत्र आनन्दमयी होती है वहाँ लौकिक अनुभूतियों में आनन्द का प्रायः अभाव रहता है ।

कला एवं साहित्य सम्बन्धी भावों के सम्बन्ध में सौन्दर्य-शास्त्रीय विद्वानों के विभिन्न मतों को हम मुख्यतः पाँच वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) भावोद्दीप्ति-वादी वर्ग, जो कला का लक्ष्य भावों का उद्दीपन मानता है । (२) भावावलम्बनवादी वर्ग, जो कला में भावों को विषय-वस्तु या आलम्बन के रूप में स्थान देता है । (३) भावानुभव वादी वर्ग—यह वर्ग कला या साहित्य को भावानुभूति का ही एक रूप मानता है । (४) भावाभिव्यक्ति वादी वर्ग—इस वर्ग के विद्वान कला को भावाभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं । (५) भाव-प्रेषणवादी वर्ग—इस वर्ग के विद्वानों की मान्यता के अनुसार कला का लक्ष्य भावों का प्रेषण करना है । इन पाँचों वर्गों में सौन्दर्य-शास्त्र के शताधिक विद्वानों के मत आ जाते हैं जिनका विवेचन एवं विश्लेषण करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आंशिक रूप में ये सभी मत ठीक हैं । किन्तु साथ ही सभी मत अपूर्ण भी हैं । भावों के उद्दीपन, अवलम्बन, अनुभव, अभिव्यञ्जन एवं प्रेषण—इन सभी व्यापारों का कला से सम्बन्ध है, अतः इनमें से किसी को भी उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता । वस्तुतः ये पाँचों व्यापार एक ही क्रिया के विभिन्न उपभेद हैं, जिस प्रकार 'स्नान' के अन्तर्गत जल को शरीर पर डालना, साबुन लगाना, शरीर को पौछना आदि व्यापारों का समावेश हो जाता है, वैसे ही आकर्षण शक्ति के अन्तर्गत इन सभी का समन्वय हो जाता है । जैसा कि हमने पीछे कहा है, साहित्य एवं कलाओं के प्रसंग में भाव को भाव न कहकर आकर्षण कहना अधिक उचित है क्योंकि भाव अहं से युक्त होते हैं जबकि साहित्य में वे अह-शून्य हो जाने के कारण आकर्षण के रूप में परिणत हो जाते हैं । साहित्य में आकर्षण-शक्ति की चार प्रक्रियाएँ संपन्न होती हैं—संयोजन, संप्रेषण, द्रवण और अभिव्यक्ति । इन्हीं चारों प्रक्रियाओं में उपर्युक्त भाव सम्बन्धी विभिन्न वादों का समन्वय हो जाता है ; देखिये—(१) संयोजन के अन्तर्गत भावावलम्बनवाद एवं भावानुभववाद का । (२) संप्रेषण के अन्तर्गत भाव-प्रेषणवाद का । (३) द्रवण के अन्तर्गत भावोद्दीपनवाद का । (४) अभिव्यक्ति में भावाभिव्यक्तिवाद का । इस दृष्टि से इन चारों ही प्रक्रियाओं का महत्त्व है तथा ये परस्पर-पूरक हैं । उच्चकोटि के काव्य में ये चारों ही प्रक्रियाएँ संपन्न होती हैं किन्तु सौन्दर्य-शास्त्र के विभिन्न वादियों ने किसी एक को ही महत्त्व देकर तथा शेष की उपेक्षा करके उचिन नहीं किया । अस्तु, सौन्दर्य-शास्त्र के भाव सम्बन्धी विभिन्न मतों का समन्वय आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त के अन्तर्गत हो जाता है ।

भावों की काव्य-शास्त्रीय व्याख्या करते हुए हम सर्वप्रथम भारतीय रस-सिद्धान्त

को ले सकते हैं, क्योंकि यह साहित्य में भावों को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का केन्द्रीय तत्त्व भाव या स्थायी भाव है तथा शेष सामग्री उसी के विभिन्न अवयवों—विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव—के रूप में प्रस्तुत होती है। इस प्रकार साहित्य की सामग्री को रस के चार अवयवों—स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव (आलम्बन एवं उद्दीपन) और अनुभाव के अन्तर्गत विश्लिष्ट किया जा सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर इन अवयवों का विवेचन, विश्लेषण एवं मंशोधन करते हुए हमने इनके सम्बन्ध में निम्नोक्त निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं—स्थायी भाव की सीमा में आधुनिक मनोविज्ञान के मूलभाव (Primary emotion), मनोदशा (Mood), भावना (Sentiment), चारित्रिक प्रवृत्ति (Tendency), एवं सहज प्रवृत्ति (Instinct) को स्थान दिया जा सकता है। (२) संचारी भाव के अन्तर्गत मनोविज्ञान के व्युत्पन्न भावों (Derived emotions) एवं अनुभूतियों (Feelings) को स्थान दिया जा सकता है। (३) आलम्बन विभाव के अन्तर्गत केवल व्यक्ति-विशेष को ही नहीं, आश्रय के लक्ष्य से सम्बन्धित वस्तु, विचार, प्रयोजन आदि को भी लिया जाना चाहिए। (४) उद्दीपन विभाव में केवल प्राकृतिक वातावरण ही नहीं, वे सब परिस्थितियाँ एवं घटनाएँ ली जा सकती हैं जो कि भावोद्दीपन में सहयोग देती हैं। (५) अनुभाव में पात्रों की केवल स्थूल चेष्टाएँ ही नहीं अपितु वे सब कार्य-व्यापार लिये जा सकते हैं जो किसी भी भाव, भावना या मनोवृत्ति से सम्बद्ध हों। इस प्रकार नई व्याख्या से रस-सिद्धान्त आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल तथा व्यावहारिक दृष्टि से अधिक स्पष्ट एवं व्यापक हो जाता है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी काव्यगत भावों को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है किन्तु उसमें रस-सिद्धान्त जैसे किसी व्यवस्थित सिद्धान्त की स्थापना नहीं हो सकी, अतः इस क्षेत्र में उसकी देन नगण्य है।

(५) भाव-प्रधान साहित्य—जिस काव्य या साहित्य में विचार और कल्पना की अपेक्षा भावों की प्रधानता हो, उसे हमने 'भाव-प्रधान साहित्य' की संज्ञा दी है। भाव-प्रधान साहित्य को विचार-प्रधान एवं कल्पना-प्रधान साहित्य से पृथक् करने के लिए उसकी तीन सीमाएँ मानी जा सकती हैं—(१) भाव-प्रधान साहित्य में रचयिता का मूल लक्ष्य भाव-विशेष की अभिव्यक्ति करना होता है। (२) भाव-प्रधान साहित्य में केन्द्रीय तत्त्व भाव ही होता है, शेष सब तत्त्व उसी के सहयोगी या अनुचर होते हैं। (३) भाव-प्रधान साहित्य से पाठक की बुद्धि की अपेक्षा उसकी भावनाएँ अधिक प्रभावित होती हैं। इस प्रकार भाव-प्रधान साहित्य में रचयिता के लक्ष्य, रचनागत तत्त्वों एवं पाठक की अनुभूति—इन तीनों की दृष्टि से भाव की प्रमुखता रहती है। भाव-प्रधान साहित्य को अनेक उपभेदों में भी विभाजित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में हम भारतीय रस-सिद्धान्त से सहायता ले सकते हैं क्योंकि उसमें स्थायी

भाव के आधार पर साहित्य का वर्गीकरण किया गया है, किन्तु यह वर्गीकरण पर्याप्त अनिश्चित एवं अस्पष्ट है। एक तो स्थायी भावों की संख्या के सम्बन्ध में ही विद्वानों में परस्पर मत-भेद है। मूलतः आठ या नौ भावों को स्थायी भाव के रूप में स्वीकार किया गया था, किन्तु आगे चलकर स्थिति बदल गई। एक ओर कुछ विद्वानों ने सभी स्थायी भावों को किसी एक ही स्थायी भाव में समन्वित कर देने का प्रयास किया है तो दूसरी ओर विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न नये-नये स्थायी भावों की उद्भावना की है जिससे इनकी संख्या पच्चीस तक पहुँच जाती है। ऐसी स्थिति में किस मत को आधार बनाया जाय—यह समस्या है ! इसके समाधान के लिए सबसे पूर्व स्थायी भाव की एक सामान्य कसौटी तैयार करने की आवश्यकता है, जिससे यह निर्णय किया जा सके कि किसे स्थायी भाव माना जाय और किसे नहीं। इस सम्बन्ध में एक प्रयास आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी कर चुके हैं। उन्होंने स्थायी भाव की कसौटी निर्धारित करते हुए लिखा—“साहित्य में आचार्यों का सारा भाव-निरूपण रस की दृष्टि से है—अर्थात् किसी भाव की व्यंजना से श्रोता या दर्शक में भी उसी भाव की सी प्रतीति के विचार से—किया गया है। अतः जो भाव ऐसे हैं जिन्हें किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुन कर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का सा अनुभव कर सकते हैं वे तो प्रधान भावों में रखे गये हैं, शेष भाव और मन के वेग संचारियों में डाले गये हैं।”<sup>३</sup> इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने आस्वाद्यत्व को ही प्रधान भाव या स्थायी भाव की कसौटी माना है किन्तु जाँच करने पर यह कसौटी अप्रामाणिक सिद्ध होती है। सफल कवि एवं कुशल अभिनेता के हाथों पड़ कर साहित्य का प्रत्येक भाव आस्वाद्य एवं संवेद्य हो जाता है, भले ही वह प्रमुख हो या गौण, स्थायी हो या संचारी। यदि ऐसा न होता तो काव्य की विषय-वस्तु का साधारणीकरण होना स्वीकार नहीं किया जाता। साधारणीकरण के सिद्धान्त के अनुसार कवि के द्वारा व्यक्त सभी भाव संवेद्य एवं आस्वाद्य होते हैं। अतः आचार्य शुक्ल के द्वारा प्रस्तुत कसौटी के अनुसार तो हम प्रत्येक भाव को स्थायी भाव मान सकते हैं, जो ठीक नहीं।

स्थायी भाव की कसौटी के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे भाव-दशाएँ और भावात्मक प्रवृत्तियाँ जो व्युत्पन्न भावों (Derived emotions) एवं अनुभूतियों (Feeling) से अधिक स्थिर एवं गंभीर हैं, स्थायी भाव के क्षेत्र में आती हैं। स्थायी भाव के क्षेत्र में आने वाली भाव-दशाओं और भावात्मक प्रवृत्तियों को भी आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर अनेक स्तर-भेदों में—जैसे सहज प्रवृत्ति, भावना, मूलभाव आदि में बाँटा जा सकता है। वस्तुतः एक ही सहज प्रवृत्ति परिस्थिति भेद से अनेक भावनाओं और मूल भावों में

विकसित हो जाती है। किन्तु सहज प्रवृत्तियों की संख्या के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतैक्य का अभाव है। इस सम्बन्ध में हमने विभिन्न मतों का समन्वय करते हुए सहज प्रवृत्तियों एवं तत्सम्बन्धी भावनाओं एवं मूल भावों की संख्या निर्धारित करने का प्रयास किया है। जिसके अनुसार सभी सहज प्रवृत्तियाँ छह प्रमुख सहज प्रवृत्तियों में समन्वित हो जाती हैं। इन सहज प्रवृत्तियों का विकास परिस्थिति भेद से लगभग तीस भावनाओं में हो जाता है, किन्तु ये सभी भावनाएँ लगभग दस मूल भावों के माध्यम से व्यक्त होती हैं। इस प्रकार स्थायी भाव के तीन प्रमुख स्तरों को सहज प्रवृत्तियों की दृष्टि से छह भेदों में, भावनाओं की दृष्टि से तीस भेदों में और मूल-भावों की दृष्टि से दस भेदों में विभक्त कर सकते हैं। इनमें से हम किसी भी स्तर को अपनायें वह अवैज्ञानिक नहीं होगा। जिस प्रकार भारतवर्ष को हम दिशाओं की दृष्टि से चार खंडों में—उत्तर भारत, दक्षिण भारत, पूर्व भारत और पश्चिम भारत—प्रान्तों की दृष्टि से बीस में (या जितने भी हों) तथा जिलों की दृष्टि से शताधिक खंडों में विभाजित कर सकते हैं। इनमें से कोई भी विभाजन अवैज्ञानिक नहीं होगा, इसी प्रकार स्थायी भावों को भी विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न भेदों में बाँटा जा सकता है। जो वर्गीकरण को विस्तार देना चाहते हैं वे भावनाओं को आधार बना सकते हैं, जबकि संक्षेप के लिए सहज प्रवृत्तियों का आधार ठीक है। यदि इस वर्गीकरण को और भी संक्षिप्त करना चाहें तो सभी सहज प्रवृत्तियों को दो ही मूल प्रवृत्तियों—आकर्षण मूलक एवं विकर्षण मूलक—में समन्वित कर सकते हैं। इस दृष्टि से स्थायी भावों की संख्या में विस्तार और संकोच—दोनों प्रकार के प्रयास आवश्यकतानुसार उपर्युक्त आधारों पर किये जा सकते हैं।

भाव-प्रधान साहित्य के सम्बन्ध में अन्य उल्लेखनीय निष्कर्ष ये हैं—(१) भाव-प्रधान साहित्य में साहित्यकार विषय-वस्तु के प्रति स्वयं भावात्मक आकर्षण अनुभव करता हुआ, उसी की प्रेरणा से आकर्षण शक्ति की चारों प्रक्रियाओं—संयोजन, संप्रेषण, द्रवण एवं अभिव्यक्ति—के माध्यम से साहित्य-सर्जन करता है। यही तथ्य भाव-प्रधान साहित्य में भावात्मक आकर्षण के संचार का आधार है। (२) भाव-प्रधान साहित्य में जब भावात्मक आकर्षण के केन्द्र में कोई एक सहज प्रवृत्ति, भावना या मूल भाव रहेगा तथा शेष भाव इसी के अंग रूप में नियोजित रहेंगे तो उसी स्थिति में भावात्मक आकर्षण प्रबल हो सकेगा अन्यथा वह छिन्न-भिन्न होकर प्रभाव-शून्य हो सकता है। (३) केन्द्रीय भाव से सम्बन्धित सहज प्रवृत्ति जितनी अधिक गंभीर होगी उसमें उतनी ही अधिक गंभीरता आने की संभावना रहेगी। (४) केन्द्रीय भाव का विकास जितनी अधिक व्युत्पन्न भाव-दशाओं एवं अनुभूतियों के द्वारा सहज रूप में दिखाया जायगा, उतना ही आकर्षण दृढ़ एवं गंभीर हो सकेगा।

वस्तुतः भाव-प्रधान साहित्य की विवेचना करते हुए हमने रस-सिद्धान्त

को आधुनिक मनोविज्ञान एवं आकर्षण-सिद्धान्त के आधार पर अधिक संगत, व्यापक एवं परिष्कृत रूप देने का प्रयास किया है ।

(६) **विचार तत्त्व**—भाव के अनन्तर साहित्य का दूसरा तत्त्व विचार है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार के चार सामान्य लक्षण बताये जा सकते हैं—(१) विचार का सम्बन्ध सदा किसी न किसी समस्या, लक्ष्य या उद्देश्य से रहता है । (२) विचार के सामान्यतः दो लक्ष्य होते हैं—सत्य का अनुसंधान या नयी योजना का आविष्कार । (३) विचार में सदा पूर्व अनुभवों का उपयोग नये रूप में होता है । (४) विचार सदा स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है । मनो विज्ञान के आधार पर विचार के तीन स्तर-भेद भी किये जाते हैं—(१) प्रत्यक्षात्मक विचार (Perception) (२) कल्पनात्मक विचार (Manipulation) और (३) प्रत्ययात्मक विचार (Conception) । तर्क-शास्त्र की दृष्टि से विचार की दो पद्धतियाँ मानी जाती हैं—आगमनात्मक एवं निगमनात्मक । अस्तु, मनोविज्ञान एवं तर्क-शास्त्र के आधार पर विचार के सामान्य रूप का अध्ययन करने के अनन्तर उमका साहित्यिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शुद्ध रूप में विचार को साहित्य में कोई स्थान नहीं दिया जा सकता, उसे भावानुभूति एवं कल्पना के सहयोग से ही साहित्य में प्रस्तुत किया जा सकता है । जिस प्रकार दार्शनिक या वैज्ञानिक अनुभूति को सामान्यीकरण की पद्धति के द्वारा शुद्ध विचार में परिणत करता है, उसी प्रकार एक साहित्यकार पुनः उसे विशेषीकरण द्वारा अनुभूति में परिणत करके साहित्यिक रूप प्रदान करता है । सामान्यतः साहित्य में विचार तत्त्व को तीन विधियों से प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) एक विचार को अन्य विचार के सहयोग से । (२) विचार को भाव के सहयोग से । (३) विचार को कल्पना के सहयोग से । इनमें प्रथम विधि का उपयोग सामान्य नीति-काव्य (सूक्तियों) में होता है जिसे काव्यत्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता, जबकि शेष दो विधियाँ उच्चकोटि के साहित्य में प्रयुक्त होती हैं ।

परम्परागत साहित्य-शास्त्र में 'विचार-प्रधान साहित्य' जैसा कोई स्पष्ट भेद नहीं मिलता किन्तु उसमें कुछ सिद्धान्त अवश्य ऐसे मिलते हैं जो मुख्यतः इसी वर्ग के साहित्य पर लागू होते हैं । इनमें तीन सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—औचित्य, उदात्त और शान्त रस । विचारों का आस्वादन हृदय की अपेक्षा बुद्धि के माध्यम से अधिक होता है तथा बुद्धि किसी भी बात को औचित्य के आधार पर ही ग्रहण करती है, अतः औचित्य का जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध विचार-प्रधान साहित्य से है उतना भाव-प्रधान से नहीं है । इसी प्रकार औदात्य का सम्बन्ध भी विचारों से अधिक है । रस-सिद्धान्त के आचार्यों की 'शान्तरस' की कल्पना भी विचार-प्रधान साहित्य पर आधृत है । जहाँ अन्य रसों में भावना-विशेष केन्द्र में रहती है वहाँ इसमें विचार-विशेष की अनुभूति रहती है—इसीलिए शान्तरस के

स्थायी भाव का अभी तक कोई एक निर्णय नहीं हो पाया। विभिन्न आचार्यों ने शम, निर्वेद, सम्यक्-ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान, तृष्णा-क्षय-सुख, सर्वचित्तवृत्ति-प्रशम आदि को शान्तरस का स्थायी भाव माना है जो स्पष्ट नहीं है। हमारे विचार से बौद्धिक विषय में तल्लीनताजन्य शान्ति या आनन्द ही शान्त रस का स्थायी भाव है। बौद्धिक आनन्द की अनुभूति के समय हमारा मन राग-द्वेष से शून्य रहता है, चित्तवृत्तियाँ शान्त रहती हैं, तृष्णाएँ क्षीण हो जाती हैं, तत्त्व-ज्ञान या सम्यक् ज्ञान का बोध होता है। अस्तु, विचार-प्रधान साहित्य के आस्वादन से प्राप्त शान्ति ही शान्त रस है। इस प्रकार स्पष्ट है कि औचित्य, उदात्त एवं शान्त रस—ये तीनों सिद्धान्त विचार-प्रधान साहित्य की ही विभिन्न विशेषताओं की व्याख्या करते हैं। इन्हें भाव-प्रधान साहित्य में भी उसी सीमा तक लागू किया जा सकता है जिस सीमा तक उसमें विचारों का स्थान है। चूँकि भाव-प्रधान साहित्य में विचार गौण रूप में ही आते हैं, अतः वहाँ इन तत्त्वों का भी स्थान गौण है। वस्तुतः जिस प्रकार रस-सिद्धान्त (शान्त रस को छोड़कर) का असली क्षेत्र भाव-प्रधान साहित्य है, वैसे ही इन सिद्धान्तों का मुख्य क्षेत्र विचार-प्रधान साहित्य है।

(७) कल्पना तत्त्व—साहित्य का तीसरा तत्त्व कल्पना है। सामान्यतः इसकी परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि कल्पना एक ऐसी मानसिक शक्ति है जो वस्तुओं की अनुपस्थिति में या अप्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में चिन्तन मनन करती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कल्पना के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसके ये सामान्य लक्षण निर्धारित किये जा सकते हैं—(१) कल्पना पूर्व अनुभूतियों पर आधारित होती है। (२) कल्पना भविष्य की ओर उन्मुख होती है। (३) कल्पना की क्रिया इच्छा प्रेरित होती है। (४) कल्पना स्वच्छन्द (बुद्धि के नियंत्रण से मुक्त) होती है। (५) कल्पना का आलम्बन अप्रत्यक्ष होता है। (६) कल्पना की आधार-भूत सामग्री बिम्बों (Images) के रूप में मस्तिष्क में संचित रहती है। (७) कल्पना का कार्य अतीत अनुभवों को नया रूप प्रदान करना या पूर्व उपलब्ध ज्ञान-सामग्री को नये रूप में प्रस्तुत करना होता है। सामान्यतः कल्पना और बिम्ब-विधान को एक ही मान लिया जाता है किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इनमें सूक्ष्म अन्तर है। बिम्ब-विधान में वस्तुओं का ऐन्द्रिक प्रभाव मूल रूप में विद्यमान रहता है जबकि कल्पना उन्हें नया रूप प्रदान करती है। बिम्ब केवल अनुकृति प्रस्तुत करते हैं जबकि कल्पना नव-सर्जन करती है। अवश्य ही कल्पना बिम्बोंकी सहायता लेती है फिर भी दोनों को एक ही नहीं माना जा सकता।

मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना के विभिन्न भेदोपभेद भी किये हैं, किन्तु साहित्य का सम्बन्ध मुख्यतः सौन्दर्योन्मुख सर्जनात्मक कल्पना से है। यह रूप कल्पना के अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक मौलिक, स्वतन्त्र एवं आनन्ददायक होता है।

कल्पना के सम्बन्ध में उपलब्ध विभिन्न मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों की पुष्टि

साहित्य-शास्त्र के आधार पर भी होती है। विभिन्न साहित्याचार्यों ने भी कल्पना के वे ही लक्षण स्वीकार किये हैं जो कि मनोवैज्ञानिकों द्वारा बताये जाते हैं।

साहित्य-सर्जन में कल्पना के योग-दान को पाँच प्रक्रियों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है—(१) द्रव्य को अचेतन-स्तर से चेतन-स्तर पर प्रस्तुत करना। (२) उपलब्ध द्रव्य का विस्तार (३) नये द्रव्य का आविर्भाव या रूपान्तरण (४) द्रव्य को अनुभूतिगम्य बनाना (५) विषय-वस्तु को देश-काल एवं व्यक्ति के सम्बन्धों से मुक्त करना। वस्तुतः कल्पना की इन्हीं पाँचों प्रक्रियाओं के सहयोग से साहित्य का सर्जन होता है।

जिस साहित्य में भाव एवं विचार की अपेक्षा कल्पना की प्रमुखता हो उसे 'कल्पना-प्रधान साहित्य' कहा जा सकता है। इस साहित्य के विश्लेषण से तीन प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—(१) बिम्बात्मकता की प्रवृत्ति (२) अत्युक्ति एवं अस्वाभाविकता की प्रवृत्ति (३) अप्रस्तुत पक्ष की प्रधानता की प्रवृत्ति। वस्तुतः ये प्रवृत्तियाँ कल्पना-प्रधान साहित्य के दुर्बल पक्ष को सूचित करती हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तथ्यों पर आधारित एवं अनुभूति से संवलित कल्पना ही उच्च कोटि के साहित्य के सर्जन में सफल होती है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न तत्त्वों की प्रमुखता की दृष्टि से साहित्य के तीन भेद—(१) भाव-प्रधान, (२) विचार-प्रधान एवं (३) कल्पना-प्रधान—हो जाते हैं जिनका क्रमशः आकर्षण शक्ति के तीन भेदों—भावात्मक आकर्षण, बौद्धिक आकर्षण एवं ऐन्द्रिक आकर्षण—से सम्बन्ध है।

(८) साहित्य का रूप या शैली—हिन्दी में सामान्यतः रूप और शैली को भिन्न-भिन्न माना जाता है जबकि हमारे विश्लेषण के अनुसार दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। 'रूप' अधिक व्यापक एवं बहु-प्रचलित शब्द है जिसका प्रयोग सभी क्षेत्रों में होता है जबकि 'शैली' का प्रयोग मुख्यतः कलाओं के ही प्रसंग में होता है। साहित्य के रूप का अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है—एक, साहित्य के रूप की उन विशेषताओं का अध्ययन जो असाहित्यिक रचनाओं में नहीं मिलती। दूसरा, साहित्य के भी विभिन्न रूपों के पारस्परिक अन्तर का अध्ययन। प्रथम प्रकार को हम साहित्य के सामान्य रूप का अध्ययन कह सकते हैं। यह अध्ययन 'शैली' के अन्तर्गत आता है जबकि विभिन्न रूपों के पारस्परिक अन्तर को हम रूप-भेदों (जैसे, नाटक, कविता, उपन्यास, निबन्ध आदि) या रूप के वर्गीकरण के अन्तर्गत स्थान दे सकते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में केवल साहित्य के सामान्य रूप (शैली) का ही अध्ययन किया गया है।

साहित्यिक दृष्टि से 'रूप' का अनुशीलन करने से पूर्व हमें विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन एवं सौन्दर्य-शास्त्र के आधार पर इसकी कुछ सामान्य विशेषताएँ समझ लेनी चाहिये। शाब्दिक दृष्टि से हिन्दी का 'रूप' अंग्रेजी के 'फार्म' (Form) का समा-नार्थक है। वैसे लाक्षणिक प्रयोगों में 'रूप' का प्रयोग अन्य अर्थों में भी होता है किन्तु

उनसे यहाँ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने यहाँ 'रूप' का प्रयोग उसी सीमित अर्थ में किया है जो 'फार्म' की सीमा में आता है तथा जिसमें किसी वस्तु की बनावट, संघटन, अवस्था, दशा, आदि से सम्बन्धित विभिन्न विशेषताओं का समावेश होता है। भौतिक विज्ञान की दृष्टि से किसी भी द्रव्य या पदार्थ में दो प्रकार के गुण माने जाते हैं—(१) रासायनिक गुण (Chemical properties) (२) भौतिक गुण (Physical properties) रूप के अन्तर्गत हम सामान्यतः भौतिक गुणों को ले सकते हैं जो कि बाह्य एवं परिवर्तनशील होते हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से रूप द्रव्य की वह विशेषता है जिसे व्यक्ति संवेदित करता है। रूप का इन्द्रियों से सीधा सम्बन्ध है—हमारी इन्द्रियाँ किसी वस्तु के जिस पक्ष का प्रत्यक्ष रूप में बोध करती हैं, वही उसका रूप है। कई बार वस्तु से इन्द्रियों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता, उनके बीच कोई अन्य माध्यम या आवरण उपस्थित हो जाता है। ऐसी स्थिति में मनोविज्ञान के अनुसार हम उस क्षण के लिए उक्त माध्यम या आवरण को भी वस्तु का रूप मान सकते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वस्तु के जिस पक्ष, आवरण या माध्यम से हमारी संवेदनाओं का निकटतम प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, मनोविज्ञान के अनुसार वही उस वस्तु का रूप है।

भारतीय दर्शन के अनुसार 'रूप' द्रव्य की प्रातिभासिक सत्ता है जो मिथ्या एवं परिवर्तनशील है। यह परिवर्तन दो प्रकार का होता है—विवर्त और परिणाम। एक रूप का अन्य रूप में परिवर्तन 'विवर्त' मात्र है जबकि रूप के साथ द्रव्य के भी गुणों का परिवर्तन 'परिणाम' है। वेदान्त के अनुसार रूप-परिवर्तन ही सृष्टि से विकास का आधार, प्रकृति का एक मात्र कार्य और हमारे समस्त आकर्षण-विकर्षण या सुख-दुःख का आधार है।

पाश्चात्य दर्शन में रूप के सम्बन्ध में चार दृष्टिकोण मिलते हैं, किन्तु उनका विश्लेषण करने पर अन्ततः हम उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।

सौन्दर्य-शास्त्र में कला के रूप या कलात्मक रूप की मीमांसा बड़े विस्तार से हुई है। विभिन्न विद्वानों ने रूप की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं, जिनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कलात्मक रूप के अन्तर्गत विषय-वस्तु की अन्विति, संयोजना, अभिव्यञ्जना एवं प्रस्तुतीकरण सम्बन्धी सभी प्रकार के वैशिष्ट्य को स्थान दिया जा सकता है। इस दृष्टि से काव्य-कला के क्षेत्र में छन्द, तुक, अलंकार, रीति शैली आदि से सम्बन्धित सभी विशेषताओं को रूप के अन्तर्गत लिया जा सकता है। वस्तुः कला में जो कुछ कथ्य है, वह उसका द्रव्य या विषय है जबकि कथन-विधि से सम्बन्धित सभी विशिष्ट तत्त्व रूप या शैली के अन्तर्गत आते हैं।

सौन्दर्य-शास्त्र के अनुसार कला में रूप-विधान का लक्ष्य सौन्दर्य या आकर्षण की उत्पत्ति करना है। कला का मूल द्रव्य सुन्दर हो, यह आवश्यक नहीं किन्तु उसे

सुन्दर रूप में प्रस्तुत करना नितान्त आवश्यक है। कलाकार असुन्दर को भी सुन्दर में परिणत कर सकता है। कला में रूप-विधान का आदर्श प्रकृति को माना जाता है क्योंकि अरस्तू के मतानुसार प्रकृति की ही अनुकृति कला है। किन्तु परिवर्ती आचार्यों ने कुछ अन्य तत्त्वों की भी खोज की है जो कला में सौन्दर्य-सृष्टि के साधन माने जा सकते हैं, जैसे, सामंजस्य, क्रमबद्धता, अनुपात, संतुलन, वक्रता, औचित्य, आवयविक एकता आदि। इस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र से रूप के विभिन्न पक्षों एवं तत्त्वों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

अस्तु, भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन एवं सौन्दर्य-शास्त्र के आधार पर रूप का सामान्य अध्ययन कर लेने के अनन्तर हम विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से रूप का विश्लेषण कर सकते हैं। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है, साहित्य के रूप की सामान्य विशेषताओं को ही 'शैली' कहा जाता है। 'शैली' की व्युत्पत्ति एवं उसकी विभिन्न परिभाषाओं का विश्लेषण करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अभिव्यञ्जना-पद्धति का वैशिष्ट्य ही शैली है। साहित्य-शास्त्र में 'शैली' से मिलते-जुलते कई और शब्द भी प्रचलित हैं, जैसे, रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति। शैली के स्पष्टीकरण के लिए यह अपेक्षित है कि हम इन सबका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट कर लें। इस दृष्टि से विचार करने पर अन्त में इस निष्कर्ष को उपलब्धि होती है कि रीति सामान्य कार्य-पद्धति है जबकि शैली व्यक्ति-भेद पर आधारित विशिष्ट पद्धति है। रीति का उद्भव पूर्व-नियोजना में रहता है जबकि शैली के मूल में मौलिक प्रयास रहता है। रीति का लक्ष्य जहाँ कार्य को शुद्धता, वैधता एवं पूर्णता प्रदान करने का रहता है वहाँ शैली उसमें नवीनता, चमत्कार एवं विशिष्टता लाना चाहती है। रीति की प्रकृति आदर्शवादी एवं मर्यादावादी है जबकि शैली स्वच्छन्दतावाद को अपनाती है। रीति चिरन्तन और स्थायी तत्त्वों की ओर उन्मुख होती है जबकि शैली क्षणिक एवं सामयिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होती है। रीति का क्षेत्र शास्त्र, विज्ञान एवं लोक-व्यवहार है जबकि शैली का सम्बन्ध मुख्यतः कला और साहित्य सम्बन्धी क्षेत्रों से है। इस प्रकार स्वरूप, उद्भव, लक्ष्य, प्रकृति, प्रवृत्ति एवं क्षेत्र की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है, किन्तु इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि दोनों सर्वथा एक-दूसरी की विरोधी ही हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है दोनों एक दूसरी की सहायक एवं पूरक हैं। दोनों के निर्माण, विकास एवं क्रिया-कलापों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ रीति का अध्ययन शैली को विकसित करता है, वहाँ शैलियों के सामान्यीकरण द्वारा रीति की प्रतिष्ठा होती है। एक व्यक्ति की शैली ही परवर्ती लेखक के लिए 'रीति' बन सकती है, तो प्रत्येक रीति का व्यावहारिक रूप ही 'शैली' की संज्ञा प्राप्त कर सकता है। अस्तु, रीति और शैली में मूलतः अन्तर होते हुए भी अन्ततः दोनों सह-योगिनी एवं एक-दूसरी की पूरक हैं।

वृत्ति, प्रवृत्ति एवं शैली का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता

है कि 'वृत्ति' व्यक्ति का सूक्ष्म अंतरंग तत्त्व है, जिसकी अभिव्यक्ति 'प्रवृत्ति' में होती है। किसी व्यक्ति की प्रवृत्तियों से ही उसकी वृत्तियों का ज्ञान होता है, प्रवृत्ति क्या है? व्यक्ति के कार्य की एक विशेषता ही प्रवृत्ति है, जबकि अनेक विशेषताओं या प्रवृत्तियों का समुच्चय ही 'शैली' है। अस्तु, संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'वृत्ति' अंतरंग तत्त्व है, उसका व्यक्त रूप 'प्रवृत्ति' है, प्रवृत्तियों का समूह 'शैली' है और शैलियों का सामान्यीकृत रूप 'रीति' है।

(६) शैली के चार स्रोत—शैली का स्वरूप स्पष्ट कर लेने के अनन्तर उसके उद्गम-स्रोतों या आधार-स्रोतों की व्याख्या की जा सकती है। हमारे विश्लेषण के अनुसार शैली के ये चार स्रोत माने जा सकते हैं—

(१) व्यक्ति (लेखक) का वैशिष्ट्य (२) विषय-वैशिष्ट्य (३) भाषा-वैशिष्ट्य और (४) पाठक-वैशिष्ट्य। इन्हीं चारों स्रोतों से शैलीगत वैशिष्ट्य का आविर्भाव होता है। अरस्तू के कारण-वाद के अनुसार इन चारों स्रोतों को क्रमशः इन चार कारणों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है—(१) योग्यतापरक कारण (Efficient cause) (२) वस्तुगत कारण (Material cause) (३) रूपात्मक कारण (Formal cause) (४) प्रयोजनमूलक कारण (Final cause)। वस्तुतः शैली के वैशिष्ट्य की सम्यक् व्याख्या के लिए इन चारों स्रोतों की विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है।

सबसे पहला स्रोत व्यक्ति-वैशिष्ट्य या व्यक्तित्व (Personality) है। मनो-वैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व का विश्लेषण बड़े विस्तार से किया है किन्तु इसके स्वरूप एवं क्षेत्र के सम्बन्ध में कोई एक निश्चित मत नहीं मिलता। व्यक्तित्व की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है—अतः हमारे सामने यह समस्या उपस्थित होती है कि प्रस्तुत प्रसंग में हम किस व्याख्या को स्वीकार करें। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि हम पहले व्यक्तित्व सम्बन्धी विभिन्न मतों का अनुशीलन करते हुए उसकी एक सामान्य परिभाषा एवं उसका क्षेत्र निश्चित कर लें। ऐसा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'व्यक्ति' की भाववाचक संज्ञा ही 'व्यक्तित्व' है, अतः इसमें उन सब गुणों एवं विशेषताओं को लिया जा सकता है जिनका सम्बन्ध व्यक्ति से संभव है। इस दृष्टि से व्यक्तित्व के चार पक्ष माने जा सकते हैं—(१) शारीरिक पक्ष (२) बौद्धिक पक्ष (३) भावात्मक पक्ष और (४) चारित्रिक पक्ष। इन चारों पक्षों के आधार पर शैली का विवेचन करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन सभी पक्षों का शैली से न्यूनाधिक सम्बन्ध है, यह लेखक की परिस्थिति एवं विषय की प्रकृति पर निर्भर है कि कहाँ कौन-सा पक्ष अधिक उभर जाय। फिर भी इनमें शारीरिक पक्ष की अपेक्षा अंतिम तीन पक्षों का अधिक महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है।

शैली का दूसरा स्रोत विषय-वैशिष्ट्य है। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न प्रकार का व्यवहार कर सकता है, वैसे ही एक ही लेखक विभिन्न

विषयों में विभिन्न प्रकार की शैलियाँ अपना सकती है। किन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने शैली को केवल व्यक्तित्व से ही सम्बद्ध घोषित करके इस स्रोत की बिल्कुल उपेक्षा कर दी, जो ठीक नहीं। हमने विषय-वस्तु के विभिन्न अवयवों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किन अवयवों की प्रमुखता होने पर शैली में कौन सी विशिष्टता आ सकती है। स्थूल रूप से हम विषय के छह अवयवों—दृश्य, पात्र, विचार, घटना, परिस्थिति एवं भाव—का सम्बन्ध क्रमशः छह प्रकार की शैलियों से स्थापित कर सकते हैं। वे ये हैं—वर्णनात्मक, चित्रणात्मक, विवेचनात्मक, विवरणात्मक, व्याख्यात्मक और भावात्मक। इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि जहाँ किसी लेखक की विषय-वस्तु में बाह्य दृश्यों की अधिकता होती है वहाँ उसकी शैली वर्णनात्मक हो जाती है जबकि विचारों की प्रमुखता होने पर विवेचनात्मक हो जाती है। यही बात अन्य शैलियों पर लागू होती है। सम्भवतः कुछ अन्य कारणों से इसके अपवाद मिल सकते हैं, किन्तु सामान्य रूप में यह स्वीकार किया जा सकता है कि शैलीगत वैशिष्ट्य में विषय का वैशिष्ट्य भी आंशिक रूप में योग देता है।

शैली का तीसरा स्रोत भाषा-वैशिष्ट्य है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने भाषा के दो रूप माने हैं—स्वभावोक्ति एवं अतिशयोक्ति। उनके विचार से साहित्य में अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति का ही प्रयोग होता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी साहित्य में सामान्य भाषा के स्थान पर विशिष्ट भाषा के प्रयोग का समर्थन किया है, यद्यपि इसका थोड़ा विरोध भी हुआ है। अतिशयोक्ति एवं विशिष्ट भाषा सम्बन्धी परम्परागत धारणाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि इसके अनुसार साहित्य की भाषा लोक-भाषा (या लोक व्यवहार की भाषा) से भिन्न या विशिष्ट होती है, किन्तु हम इस मत को स्वीकार नहीं कर सकते। साहित्य की भाषा में जो वैशिष्ट्य मिलता है, वह लोक व्यवहार की भाषा में भी प्राप्य है। 'हाय ! मर गया।' 'तुम्हारी चमड़ी उधेड़ दूँगा,' 'तुम तो ईद के चाँद हो गये हो !'—जैसे भावात्मक प्रयोगों में लाक्षणिकता, अलंकरण, बिम्ब-विधान आदि की वे सब विशेषताएँ मिलती हैं जो साहित्यिक भाषा के वैशिष्ट्य की द्योतक हैं। वस्तुतः साहित्य का भाषा-वैशिष्ट्य लोक-भाषा से पार्थक्य का नहीं, अपितु शास्त्र और विज्ञान की भाषा के पार्थक्य का सूचक है। विज्ञान में भाषा का सामान्य, अभिधात्मक, संतुलित एवं निश्चित रूप प्रयुक्त होता है जब कि साहित्य (तथा लोक-व्यवहार में भी) में उसका विशिष्ट, लाक्षणिक, व्यंग्यात्मक, असंतुलित एवं अनिश्चित रूप प्रयुक्त होता है—दोनों का यही अन्तर साहित्यिक शैली के वैशिष्ट्य का एक कारण है।

शैली का चौथा स्रोत पाठक का वैशिष्ट्य है। जिस प्रकार बातचीत में हम श्रोता के अनुकूल शब्दावली का व्यवहार करते हैं वैसे ही लेखन में पाठक की रुचि एवं उसके स्तर के अनुकूल शैली का प्रयोग करते हैं। यद्यपि लेखन-कार्य के सम्बन्ध में

लेखक और पाठक के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता किन्तु पाठक के स्तर की धारणा अप्रत्यक्ष रूप से लेखक के मन में विद्यमान रहती है जो उसके लेखन को एक सीमा तक नियंत्रित करती रहती है। विभिन्न वर्ग के पाठकों में भी पस्पर रुचि-भेद मिलता है, जैसे किसी वर्ग के पाठक सरल एवं स्वाभाविक शैली को पसन्द करते हैं तो किसी वर्ग के पाठक चमत्कार को अधिक महत्त्व देते हैं। पाठकों की इस पसन्द का उनसे सम्बन्धित लेखकों की शैली पर भी थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ना आवश्यक है। अतः पाठक के वैशिष्ट्य को भी शैलीगत वैशिष्ट्य का एक कारण माना जा सकता है—इसमें कोई संदेह नहीं।

(१०) शैली सम्बन्धी परंपरागत सिद्धान्त—परम्परागत साहित्य-शास्त्र में में भी शैली के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं—(क) भारतीय काव्य-शास्त्र में—(१) अलंकार (२) रीति या गुण (३) ध्वनि (४) वक्रोक्ति। (ख) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में—(१) अलंकार (२) रीति या गुण (३) बिम्ब (४) प्रतीक। इनमें से प्रथम दो सिद्धान्त—अलंकार और रीति—दोनों क्षेत्रों में ही पाये जाते हैं, अतः इन्हें परस्पर समन्वित किया जा सकता है। ये सभी सिद्धान्त शैली के विभिन्न पक्षों एवं तत्त्वों की व्याख्या करते हैं किन्तु इनमें अनुचित क्षेत्र-विस्तार, पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता एवं भेदोपभेदों की जटिलता आदि की दूषित प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। पर यदि इन्हें संशोधित रूप में अपनाया जाय तो ये शैली के अध्ययन में पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। अतः इन पर क्रमशः विचार किया जा सकता है।

(क) अलंकार-सिद्धान्त—अलंकार के स्वरूप का विवेचन करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों ने लगभग एक जैसे ही मत प्रस्तुत किये हैं। दोनों ही क्षेत्रों के आचार्यों ने अलंकार के तीन सामान्य लक्षण बताये हैं—(१) अलंकार वैचित्र्य-मूलक होते हैं। (२) ये शोभाकारक होते हैं। (३) ये अभिव्यंजना के विशिष्ट प्रकार हैं। इसी प्रकार अलंकारों के वर्गीकरण में भी दोनों क्षेत्रों के विद्वानों से गहरी समानता मिलती है—दोनों ही क्षेत्रों में अलंकारों के तीन प्रमुख वर्ग किये गये हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं उभयालंकार। अर्थालंकारों के वर्गीकरण में भारतीय विद्वानों ने अधिक सूक्ष्मता एवं वैज्ञानिकता का परिचय दिया है। उन्होंने मुख्यतः छह प्रकार के अर्थालंकार माने हैं—(१) सादृश्य-मूलक (२) विरोध-मूलक (३) शृंखला-मूलक (४) तर्क-न्याय-मूलक (५) वाक्य न्याय-मूलक और (६) गूढार्थ प्रतीति-मूलक। इन वर्गों में आने वाले सभी भारतीय एवं पाश्चात्य अलंकारों का विवेचन करने से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न अलंकारों के मूल में विभिन्न तत्त्व विद्यमान हैं। इस दृष्टि से सभी अलंकारों का सार इन दस तत्त्वों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) आवृत्ति (शब्दालंकारों में) (२) अर्थ-वैचित्र्य (शब्दालंकारों में) (३) व्याकरण-वैचित्र्य (शब्दालंकारों में)

(४) अप्रस्तुत-योग (सादृश्य-मूलक अलंकारों में) (५) वक्रता या वैचित्र्य (विरोध-मूलक अलंकारों में) (६) क्रम-वैशिष्ट्य (शृंखला-मूलक अलंकारों में) (७) औचित्य (तर्क-न्याय-मूलक अलंकारों में) (८) वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य (वाक्य-न्याय-मूलक अलंकारों में) (९) स्वाभाविकता (लोक न्याय मूलक अलंकारों में) (१०) व्यंग्यात्मकता (गूढार्थ प्रतीति-मूलक अलंकारों में) । इन तत्त्वों में से कितने अलंकार के मूल क्षेत्र से सम्बद्ध हैं और कितने पड़ोसी सिद्धान्तों से अपहृत हैं—इसका निर्णय आगे किया जायगा ।

अलंकार-प्रयोग के लक्ष्य एवं औचित्य के सम्बन्ध में भी विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य मतों का अनुशीलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकार-प्रयोग का लक्ष्य अंततः साहित्य की आकर्षण शक्ति को उद्दीप्त करना है तथा इस लक्ष्य की पूर्ति में वे जहाँ तक योग देते हैं, वहाँ तक उनका औचित्य स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा अपने-आप में अलंकारों का कोई महत्त्व नहीं है ।

(ख) गुण (रीति) सिद्धान्त—गुणों की चर्चा भारतीय एवं पाश्चात्य—दोनों क्षेत्रों में हुई है । गुण की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि वे काव्य के ऐसे उत्कर्ष-साधक तत्त्व हैं जो मुख्य रूप से रस के एवं गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य-धर्म हैं । गुणों के स्वरूप, क्षेत्र एवं लक्ष्य का विशेष अध्ययन करने पर हमें ये निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं—(१) ये भाषा-शैली के सामान्य तत्त्व हैं जिनकी अपेक्षा न केवल साहित्यिक रचनाओं में अपितु वैज्ञानिक रचनाओं में भी होती है; जैसे, शुद्धता, स्पष्टता, संक्षिप्तता आदि गुणों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है । (२) गुण रचना के किसी एक अवयव में या एक अंग में विद्यमान नहीं होते अपितु रचना-विशेष या लेखक-विशेष की सभी रचनाओं में सामान्य रूप से व्याप्त होते हैं । (३) भाषा के माध्यम से रची जाने वाली प्रायः सभी रचनाओं में गुणों की अपेक्षा होती है—इसीलिए इन्हें नित्य या स्थायी गुणों के रूप में स्वीकार किया गया है । (४) गुणों का लक्ष्य साहित्य को निर्दोष बना कर उसके मूल सौन्दर्य की रक्षा करना है, वे सौन्दर्य के उत्पादक या जनक नहीं माने जा सकते ।

इस प्रकार हमारे विश्लेषण के अनुसार गुणों को भाषा के सामान्य तत्त्वों के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, साहित्यिक तत्त्वों के रूप में नहीं । आचार्य वामन ने इन्हें आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है । गुणों की संख्या में भी अनावश्यक रूप में अभिवृद्धि की गई है । विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य धारणाओं के विश्लेषण के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुणों की श्रेणी में केवल तीन ही तत्त्व आते हैं—शुद्धता, स्पष्टता और संक्षिप्तता । ओज, माधुर्य आदि तत्त्वों को भी गुण रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु उनका भाषा एवं साहित्य से तथा-कथित नित्य सम्बन्ध नहीं है । इसके अतिरिक्त वे साहित्य की अपेक्षा संगीत से अधिक सम्बन्धित है । अतः अनेक कारणों से इन्हें गुणों के रूप में मान्यता नहीं दी जा

सकती। इसी प्रकार गुणों के वैपरीत्य को दोष कहा गया है; अतः गुणों के अनुसार उनका भी समन्वय एवं संशोधन करते हुये केवल तीन ही दोषों—अशुद्धता, अस्पष्टता एवं शिथिलता—को स्वीकार किया जा सकता है।

अस्तु, गुण-सिद्धान्त के अनेक स्वतोव्याघात दोषों एवं पारस्परिक असंगतियों का निराकरण करते हुए हमने उसे भाषा-शैली के एक ऐसे सामान्य—एवं प्रारंभिक—सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है जिसका सम्बन्ध भाषा के माध्यम से रची जाने वाली प्रत्येक रचना से है—चाहे वह साहित्य की हो या विज्ञान की। गुणों की यह विशिष्टता जहाँ उन्हें नित्यता एवं स्थायित्व प्रदान करती है वहाँ यह उनके विशुद्ध साहित्यिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित होने में बाधा भी उपस्थित करती है।

(ग) शब्द-शक्तियाँ और ध्वनि—ध्वनि सिद्धान्त शब्द-शक्तियों पर आधारित है, अतः इसे समझने के लिए पहले शब्द-शक्तियों का अनुशीलन कर लेना आवश्यक है। शब्द अपनी जिस शक्ति से अर्थ सूचित करने का कार्य संपादित करते हैं, उसे ही शब्द-शक्ति कहते हैं। शब्द-शक्ति के मुख्यतः तीन प्रकार माने गये हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को अभिधा शक्ति कहते हैं। अभिधा के विभिन्न तत्त्वों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि इसके द्वारा सूच्य अर्थ मुख्यतः परंपरा या रूढ़ि पर आधारित होता है। लक्षणा शक्ति की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो वही लक्षणा है। इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर लक्षणा के तीन लक्षण स्पष्ट होते हैं—(१) वाच्यार्थ या मुख्यार्थ की बाधा। (२) लक्ष्यार्थ का वाच्यार्थ से सम्बन्धित होना। (३) लक्षणा के पीछे किसी रूढ़ि या विशेष प्रयोजन की प्रेरणा का होना। इन लक्षणों का और अधिक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि लक्षणा में कुछ शब्दों या वाक्यांशों की न्यूनता के कारण ही मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होती है, यदि इन अंशों को जोड़ दें तो लक्षणा अभिधा में परिवर्तित हो सकती है। उदाहरण के लिए, 'पंजाब वीर है' के स्थान पर 'पंजाब के लोग वीर है' कह दें तो पहला लाक्षणिक प्रयोग अभिधात्मक कथन में परिवर्तित हो जायगा। दूसरे, लक्षणा किसी सर्वथा नवीन अर्थ को जन्म नहीं देती, वह अभिधात्मक अर्थ में ही थोड़ा परिवर्तन प्रस्तुत करती है, इसीलिए लक्ष्यार्थ का वाच्यार्थ से न्यूनाधिक सम्बन्ध सदा बना रहता है—यदि यह सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न हो जाय तो उस स्थिति में वह लक्षणा न रहकर व्यंजना हो जायगी। लक्षणा का लक्ष्य सदा केवल अर्थ को सूचित करना ही नहीं अपितु उस पर विशेष बल देना होता है, इसी को प्राचीन आचार्यों ने 'विशेष प्रयोजन' कहा है। पर यह विचित्र बात है कि 'विशेष प्रयोजन' के साथ-साथ 'रूढ़ि' को भी लक्षणा का आधार स्वीकार कर लिया गया है जबकि हमारे विश्लेषण के अनुसार यह ठीक नहीं। रूढ़ि पर आधारित प्रयोग अभिधा के क्षेत्र में आते हैं,

लक्षणा के क्षेत्र में नहीं, किन्तु लक्षणावादियों ने लक्षणा के क्षेत्र में अभिधा और व्यंजना को भी समाविष्ट करने के लिए लक्षणा के कुछ ऐसे भेदोपभेदों की कल्पना की है जो लक्षणा के मूल लक्षणों के प्रतिकूल पड़ते हैं। एक ओर रूढि लक्षणा ऐसा ही भेद है तो दूसरी ओर लक्षण-लक्षणा एवं सारोपा लक्षणा जैसे भेद हैं। रूढि लक्षणा में रूढि के कारण लाक्षणिकता का अभाव रहता है तो लक्षण-लक्षणा में लक्ष्यार्थ को वाच्यार्थ से सर्वथा असम्बद्ध माना गया है जबकि लक्षणा की परिभाषा के अनुसार दोनों का संबद्ध होना आवश्यक है। इसी प्रकार सारोपा लक्षणा में भी उपमेय और उपमान—दोनों की उपस्थिति के कारण मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित नहीं होती जब कि लक्षणा के लिए यह एक आवश्यक शर्त है। वस्तुतः लक्षणावादी लक्षणा के भेदोपभेदों का विस्तार करते समय लक्षणा के मूल लक्षणों को ही भुला बैठे। अस्तु, हमने इस प्रकार के असंगत भेदोपभेदों का बहिष्कार करते हुए केवल चार भेदों को ही संशोधित रूप में स्वीकार किया है—(१) गौणी लक्षणा (२) शुद्ध लक्षणा (३) उपादान लक्षणा (४) लक्षण-लक्षणा। ये चारों भेद वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के पारस्परिक सम्बन्धों के विभिन्न प्रकारों को सूचित करते हैं। गौणी दोनों के सादृश्य सम्बन्ध को, शुद्ध दोनों के सामीप्य, आधारारोप्य एवं तात्कर्म्य सम्बन्ध को, उपादान दोनों के सम्बन्ध की घनिष्ठता को और लक्षण-लक्षणा दोनों के सम्बन्ध की दूरी को सूचित करती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ की असम्बद्धता को तथा दोनों की सम्बद्धता को क्रमशः लक्षण-लक्षणा एवं उपादान लक्षणा की आधारभूत विशेषताओं के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु जैसा कि हम ऊपर निवेदन कर चुके हैं, यह स्वीकृति लक्षण-लक्षणा को लक्षणा के क्षेत्र से बहिष्कृत कर देती है, अतः हमने दोनों के लक्षणों में संशोधन करते हुए उपादान लक्षणा में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का घनिष्ठ सम्बन्ध एवं लक्षण लक्षणा में दूर का सम्बन्ध (सम्बन्ध का सर्वथा अभाव नहीं) माना है। अस्तु, लक्षणा के ये स्वीकृत भेद वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के ही पारस्परिक सम्बन्धों के विभिन्न स्तरों एवं रूपों के अनुमापक हैं अन्यथा इनकी कोई उपयोगिता नहीं है।

तीसरी प्रमुख शब्द-शक्ति व्यंजना है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने व्यंजना की परिभाषा बड़े अस्पष्ट रूप में की है। विभिन्न आचार्यों ने इसकी अभाव वादी (Negative) परिभाषा करते हुए प्रायः यही कहा है कि जो अर्थ अभिधा एवं लक्षणा से व्यक्त नहीं होता, उस अर्थ को (या वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ को) व्यक्त करने वाली शक्ति व्यंजना है। इससे यह तो ज्ञात होता है कि जो अभिधा और लक्षणा नहीं है, वह व्यंजना है, पर स्वयं व्यंजना क्या है—उसकी स्वतंत्र विशेषताएँ क्या हैं?—इसका स्पष्टीकरण उपलब्ध परिभाषाओं से नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि हम व्यंजना की भाववादी (Positive) परिभाषा प्रस्तुत करें। व्यंजना का तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करने पर उसकी तीन विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

(१) अभिधा में जहाँ एक साथ एक अर्थ विद्यमान रहता है तथा लक्षणा में एक अर्थ अन्य अर्थ में परिवर्तित हो जाता है, वहाँ व्यंजना में एक साथ दो या दो से अधिक अर्थ विद्यमान रहते हैं । (२) लक्षणा में लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से ही सम्बन्धित या उसी का परिवर्तित रूप होता है जबकि व्यंजना में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से सम्बन्धित या परिवर्तित न होकर स्वतन्त्र रूप में विद्यमान रहता है । (३) जहाँ अभिधा अलग-अलग शब्दों में सक्रिय रहती है, लक्षणा वाक्यों में सक्रिय हो पाती है वहाँ व्यंजना प्रसंग (या वाक्य-समूहों) में ही सक्रिय होती है ; अतः वह प्रसंग पर आश्रित होती है । इन तीनों विशेषताओं का समन्वय करते हुए कहा जा सकता है कि व्यंजना भाषा की वह शक्ति है जिसके कारण किसी प्रकरण या प्रसंग-विशेष में एक साथ अनेक स्वतन्त्र अर्थों की सत्ता विद्यमान रहती है ।

व्यंजना के भेदोपभेदों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि व्यंजना-वादियों ने भी इस क्षेत्र में लक्षणावादियों का अनुकरण करते हुए ऐसे भेदों की कल्पना की है जो व्यंजना के मूल स्वरूप के प्रतिकूल पड़ते हैं । जिस प्रकार लक्षणावादियों ने अभिधा और व्यंजना को लक्षणा से पृथक् स्थान देना उचित नहीं समझा उसी प्रकार व्यंजनावादियों ने भी अन्य शक्तियों का समाहार अपने ही क्षेत्र में कर लेने का प्रयास किया है । ऐसा करते समय वे व्यंजना की मूल परिभाषा एवं अपने अधिकार क्षेत्र को भी भूल गये । उदाहरण के लिए व्यंजना के दो भेदों—शाब्दी व्यंजना एवं आर्थी व्यंजना तथा शाब्दी व्यंजना के दो भेदों—अभिधामूला एवं लक्षणामूला—पर दृष्टिपात करें । इन भेदों के लक्षणों एवं उदाहरणों का विश्लेषण करने पर यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि इन भेदोपभेदों में आर्थी व्यंजना को छोड़कर शेष सभी या तो अभिधात्मक प्रयोग आते हैं या लाक्षणिक; व्यंजना का सम्बन्ध उनसे नहीं है । यदि इन भेदों को स्वीकार कर लिया जाय तो व्यंजना का क्षेत्र इतना व्यापक हो जायगा कि सभी अनेकार्थक शब्द, श्लिष्ट पद, व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ, लाक्षणिक प्रयोग उसमें समाविष्ट हो जायेंगे । वस्तुतः व्यंजना के ये भेदोपभेद अनावश्यक एवं असंगत हैं ।

उपर्युक्त शब्द-शक्तियों के पारस्परिक अन्तर को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम उनके अर्थ के स्रोत, अर्थ की प्रकृति, अर्थ की संख्या, कार्य-क्षेत्र, आकर्षण-भेद, एवं प्रभाव की गंभीरता की दृष्टि से उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर सकते हैं । इससे अनेक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है । अर्थ के स्रोत की दृष्टि से अभिधा का सम्बन्ध परंपरा, से, लक्षणा का भावातिरेक जन्य प्रयोग से और व्यंजना का बुद्धि-नियंत्रित भावात्मक प्रयोग से है । अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से अभिधा को सामान्य, स्थिर एवं निश्चित कहा जा सकता है जबकि लक्षणा और व्यंजना विशिष्ट, अस्थिर एवं अनिश्चित अर्थ को सूचित करती हैं । सूच्य अर्थों की संख्या की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का अनुपात क्रमशः एक, डेढ़ एवं दो माना जा सकता है । कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से अभिधा का क्षेत्र शब्द है, लक्षणा का वाक्य एवं व्यंजना का प्रसंग है । अभिधा

में द्रव्यगत (ऐन्द्रिक) आकर्षण रहता है जबकि लक्षण और व्यंजना में शैलीजन्य भावात्मक एवं बौद्धिक आकर्षण की सत्ता रहती है। प्रभाव की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का महत्त्व उत्तरोत्तर अधिक है। अस्तु, संक्षेप में इन्हीं आधारों पर शब्द-शक्तियों के अन्तर को हृदयंगम किया जा सकता है।

(घ) ध्वनि-सिद्धान्त—ध्वनि की परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उसका सम्बन्ध 'प्रतीयमान' अर्थ से है। 'प्रतीयमान अर्थ, वस्तुतः 'व्यंग्यार्थ' का पर्यायवाची है। अस्तु, व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य ही ध्वनि है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या ध्वनि-काव्य में वाच्यार्थ का कोई महत्त्व नहीं? क्या ध्वनि के सौन्दर्य में वाच्यार्थ का कोई योग-दान नहीं रहता? इस सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी मत मिलते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वाच्यार्थ में ही सौन्दर्य का निवास माना है जबकि डा० नगेन्द्र ने इस मत का खंडन करते हुए व्यंग्यार्थ में सौन्दर्य की सत्ता सिद्ध की है। हमारे विश्लेषण के अनुसार ये दोनों ही मत अतिवादिता पर आश्रित हैं। सौन्दर्य का निवास न तो वाच्यार्थहीन व्यंग्यार्थ में होता है और न ही व्यंग्यार्थशून्य वाच्यार्थ में—वस्तुतः दोनों की सह-स्थिति से ही सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। ऐसी स्थिति में किसी भी एक को इसका श्रेय नहीं दिया जा सकता। आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार एक ही स्तर के दो विरोधी तत्त्वों का संपर्क या संयोजन ही आकर्षण शक्ति का उद्दीपक होता है, यही नियम यहाँ लागू होता है। अतः ध्वनि के सौन्दर्य का श्रेय भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के सम्पर्क या साहचर्य को ही दिया जा सकता है—किसी एक को नहीं।

ध्वनि के भेदोपभेदों में वे सारी असंगतियाँ विद्यमान हैं जो व्यंजना के भेदों में मिलती है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ अधिक विस्तार में न पड़कर केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझेगे कि ध्वनि के प्रायः सभी भेद—अभिधामूला, लक्षणामूला, असंलक्ष्य-क्रम, संलक्ष्य-क्रम, रसध्वनि, अलंकार-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि आदि—अनावश्यक, असंगत एवं भ्रामक हैं। ध्वनिवादियों ने ऐसे-ऐसे भेदों की कल्पना की है जिनसे काव्य की प्रत्येक उक्ति पर ध्वनि का लेबिल लगाया जा सके। अवश्य ही वे ऐसा करने में सफल हो गये हैं, पर साथ ही ध्वनि का रूप विकृत एवं आकर्षणहीन भी हो गया है। ध्वनि के परंपरागत भेदों को स्वीकार किया जाय तो न केवल साहित्य अपितु इतिहास, दर्शन, विज्ञान और लोक-व्यवहार की प्रत्येक उक्ति को ध्वनि के किसी न किसी भेद में स्थान दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए—“भारत में चालीस करोड़ लोग रहते हैं।” “आज रविवार है।” “कल गेहूँ बीस रुपये मन था, आज बाईस रुपये मन” आदि वाक्य भी वस्तु-ध्वनि के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं क्योंकि इनमें क्रमशः भारत की महानता, आज छुट्टी है, महँगाई बढ़ रही है आदि तथ्यों की व्यंजना मानी जा सकती है। वस्तुतः ध्वनि के इन भेदों को स्वीकार कर लेने पर सब कुछ ध्वनि में आ जाता है जो ठीक नहीं।

(ङ) वक्रोक्ति सिद्धान्त—वक्रोक्ति का शाब्दिक अर्थ है—वह उक्ति जिसमें

वक्रता हो । वक्रोक्ति का मूल सौन्दर्य वक्रता या वैचित्र्य में ही मानते हुए इसे स्वभावोक्ति के विपरीत माना गया है । आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के भेदोपभेद करते हुए उसे एक ऐसा व्यापक रूप प्रदान किया है जिससे वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-कौशल तक सभी प्रकार का काव्य-वैशिष्ट्य इसमें समाविष्ट हो जाता है । जिन्हें अलंकार वादी अनुप्रास, यमक आदि की संज्ञा देते हैं वे कुन्तक के यहाँ 'वर्ण-वक्रता' के नाम से पुकारे जाते हैं । इसी प्रकार अर्थालंकार वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत आ जाते हैं । ध्वनि या व्यंग्य-प्रधान काव्य को वक्रोक्तिवादी प्रकरण-वक्रता का नाम दे देते हैं । कथावस्तु, भावाभिव्यक्ति एवं रस-योजना से सम्बन्धित विभिन्न विशेषताएँ प्रबन्ध-वक्रता में आ जाती हैं । अस्तु, वक्रोक्तिवाद में 'वक्रता' के अन्तर्गत सभी प्रकार की काव्य-विशेषताओं का समाहार कर लिया गया है । वक्रोक्ति के इस व्यापक रूप को स्वीकार करने का अर्थ है अन्य सभी सिद्धान्तों के अस्तित्व को अस्वीकार करना । साथ ही इससे वक्रोक्ति का रूप इतना अमर्यादित एवं अनिश्चित हो जाता है कि उसका स्वभावोक्ति से भी पार्थक्य स्पष्ट करना कठिन हो जाता है, अतः इसे हम स्वीकार नहीं कर सकते । हाँ, इसे मर्यादित रूप में अवश्य स्वीकार किया जा सकता है—इस सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा ।

(च) **बिम्ब-सिद्धान्त**—बिम्ब या इमेज (Image) की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि शब्दों के माध्यम से निर्मित चित्र ही बिम्ब हैं । इस परिभाषा को तथ्य रूप में स्वीकार करना कठिन है क्योंकि चित्र सदा रेखाओं के—शब्दों के नहीं—माध्यम से ही निर्मित होते हैं । वस्तुतः यहाँ 'चित्र' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक रूप में किया गया है जिसका वास्तविक अर्थ है वस्तुओं के रूप-रंगादि का ऐसा विवरण जिसके पढ़ने या सुनने से (चित्र की भाँति देखने से नहीं) हमारे मानसिक बिम्ब उदित या तरंगित हो सके । साहित्यिक बिम्ब की सामान्यतः पाँच विशेषताएँ मानी जाती हैं—(१) चित्रात्मकता—इसका आख्यान ऊपर हो चुका है । (२) शब्द-रूपात्मकता (३) ऐन्द्रिकता—इन्द्रियों को प्रभावित करने की क्षमता (४) भावोत्पादकता (५) अप्रस्तुत के सन्निवेश या आरोपण का अभाव । इस प्रकार बिम्ब प्रस्तुत विषय के ऐसे ऐन्द्रिक गुणों पर बल देता है जिनकी चर्चा से पाठक के भावों का उद्बलन हो ।

बिम्बों के वर्गीकरण के भी अनेक प्रयास किये गये हैं ; किन्तु इन्हें हम सफल नहीं मान सकते । बिम्बों के ऐसे भेदों की भी चर्चा की गई है जो बिम्बात्मकता के प्रतिकूल पड़ते हैं ; उदाहरण के लिए 'Abstract Image' को लीजिए । बिम्ब का लक्ष्य ही सूक्ष्म तथ्यों को मूर्त रूप में प्रस्तुत करना है, ऐसी स्थिति में बिम्बात्मकता शून्य बिम्बों की कल्पना ही अपने-आपमें हास्यास्पद है । बिम्ब के कुछ भेदों में उपमा रूपक एवं प्रतीक को भी घुला-मिला दिया है, जो ठीक नहीं । वस्तुतः बिम्ब और

अलंकार में परस्पर गहरा अन्तर है। बिम्ब-विधान का क्षेत्र प्रस्तुत विषय या उपमेय तक ही सीमित रहता है जबकि अलंकारों में अप्रस्तुत विषय या उपमानों का भी समावेश किया जाता है। बिम्ब सदा ऐन्द्रिक प्रभाव को ही आकर्षण का साधन बनाता है जबकि अलंकार में बौद्धिक चमत्कार का भी आश्रय लिया जा सकता है। बिम्बों का सम्बन्ध सामान्यतः रूप की अनुभूति से होता है जबकि अलंकार सूक्ष्म भावों और विचारों को भी प्रेषित कर सकते हैं। बिम्ब स्वभावोक्ति का मार्ग अपनाता है जबकि अलंकार अतिशयोक्ति पर आधारित होते हैं। अतः बिम्ब और अलंकार को एक ही मान लेना भ्रान्तिपूर्ण है। इसी प्रकार बिम्ब और प्रतीक में भी गहरा अन्तर है ; बिम्ब प्रस्तुत से सम्बद्ध, एकार्थक, चित्रात्मक एवं स्वाभाविकता युक्त होते हैं जबकि प्रतीक में अप्रस्तुत का आरोपण, अनेकार्थकता, बौद्धिकता एवं चमत्कारिता होती है। वस्तुतः अन्य सिद्धान्तों के अनुयायियों की भाँति बिम्बवादियों ने भी अपने भेदोपभेदों के बहाने क्षेत्र-विस्तार की प्रवृत्ति में पड़कर ऐसे तत्त्वों पर अधिकार करने का प्रयास किया है जो मूलतः बिम्ब के मूल क्षेत्र से बहुत दूर पड़ते हैं। हम इस प्रयास को मान्यता नहीं दे सकते।

(छ) प्रतीक सिद्धान्त—‘प्रतीक’ का सामान्य अर्थ होता है—वह संकेत-चिह्न जिसका प्रयोग किसी अन्य संकेत-चिह्न या अर्थ के स्थान पर (उसके प्रतिनिधि के रूप में) होता है। साहित्यिक प्रतीक के भी सामान्यतः ये तीन लक्षण स्वीकार किये जा सकते हैं—(१) शब्द (संकेत-चिह्न) का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग (२) अनेकार्थकता (३) अप्रत्यक्ष या विशिष्ट अर्थ की प्रत्यक्ष एवं सामान्य अर्थ से अधिक महत्ता। इस दृष्टि से शब्दों के सामान्य प्रयोग एवं प्रतीकात्मक प्रयोग में गहरा अन्तर है किन्तु कुछ प्रतीकवादियों ने प्रत्येक शब्द को प्रतीक घोषित किया है। किन्तु यदि दोनों की तुलना की जाय तो उनमें कई प्रकार का अन्तर स्पष्ट रूप में परिलक्षित होगा। एक तो सामान्य शब्द का अर्थ (श्लिष्ट पदों को छोड़कर) सामान्यतः एक ही होता है जबकि प्रतीक में अनेकार्थकता होती है। दूसरे, सामान्य शब्द का अर्थ प्रसंग पर आधारित नहीं रहता जबकि प्रतीक में ऐसा होता है। तीसरे, सामान्य शब्द का अर्थ परम्परा से विकसित होता है जबकि प्रतीक में अर्थ का आरोपण होता है। अस्तु, प्रत्येक शब्द को प्रतीक मानना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि प्रतीक भी रूढ़ होजाने पर प्रतीकात्मकता से शून्य होकर सामान्य शब्दों की भाँति संकेत-चिह्नों में परिणत हो जाते हैं।

प्रतीकों के वर्गीकरण के भी कई प्रयास किये गये हैं, जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास श्री अरबन महोदय का है। उन्होंने प्रतीकों के तीन वर्ग निर्धारित किये हैं—(१) संकेतात्मक (२) अभिव्यंजनात्मक और (३) आरोपमूलक। इन वर्गों को भारतीय शब्द-शक्तियों की दृष्टि से क्रमशः अभिधात्माकता, लाक्षणिकता एवं

व्यंग्यात्मकता से युक्त माना जा सकता है। हमारे विचार से इनमें तीसरा वर्ग ही प्रतीकों के वास्तविक रूप का प्रतिनिधित्व करता है।

कुछ विद्वानों ने प्रतीक और रूपक को भी एक माना है, किन्तु इनमें सूक्ष्म अन्तर है। प्रतीकों में जहाँ अप्रस्तुत का ही उल्लेख रहता है वहाँ रूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का कथन होता है—अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता। हाँ, भारतीय अलंकारों में से रूपकातिशयोक्ति को अवश्य प्रतीक के अनुरूप कहा जा सकता है।

प्रतीक-योजना का लक्ष्य साहित्य में मूलतः कथ्य को आकर्षक रूप प्रदान करना होता है जबकि विज्ञान में केवल कथ्य को स्पष्ट करना ही होता है। साहित्यिक प्रतीकों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में से एक पक्ष का सम्बन्ध तथ्य या विचार से तथा दूसरे का भाव एवं अनुभूति से रहता है जबकि वैज्ञानिक विषयों में प्रयुक्त प्रतीकों में ऐसा नहीं होता—उनमें दोनों पक्ष ही प्रायः विचारात्मक होते हैं। इसी से इनके प्रभाव में अन्तर आ जाता है।

**परंपरागत तत्त्वों का विश्लेषण**—इस प्रकार शैली सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों के विश्लेषण से इन तत्त्वों की उपलब्धि होती है—

(क) अलंकार-सिद्धान्त से—(१) आवृत्ति (२) श्लेष (३) व्याकरण-वैचित्र्य (४) अप्रस्तुत-योग (५) वक्रता या वैचित्र्य (६) क्रम-वैशिष्ट्य (७) औचित्य (८) वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य (९) स्वाभाविकता (१०) व्यंग्यात्मकता।

(ख) गुण-सिद्धान्त से—(१) शुद्धता (२) स्पष्टता (३) संक्षिप्तता।

(ग) शब्द-शक्ति एवं ध्वनि सिद्धान्त से—(१) लाक्षणिकता (२) व्यंग्यात्मकता।

(घ) वक्रोक्ति सिद्धान्त से—वक्रता या उक्ति-वैचित्र्य।

(ङ) बिम्ब-सिद्धान्त से—बिम्बात्मकता।

(च) प्रतीक सिद्धान्त से—प्रतीकात्मकता।

इन सभी तत्त्वों को भाषा के विभिन्न पक्षों के आधार पर इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

(क) भाषा के नाद-पक्ष से सम्बन्धित तत्त्व—आवृत्ति।

(ख) भाषा के रूप-पक्ष से सम्बन्धित तत्त्व—शुद्धता, संक्षिप्तता, क्रम-बद्धता, व्याकरण-वैचित्र्य, वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य।

(ग) भाषा के अर्थ-पक्ष से सम्बन्धित तत्त्व—(अ) अभिधा से सम्बन्धित—स्पष्टता, स्वाभाविकता, औचित्य, बिम्बात्मकता, अप्रस्तुत-योग। (आ) लक्षणा-शक्ति से सम्बन्धित—वक्रता, लाक्षणिकता, उक्ति-वैचित्र्य। (इ) व्यंजना-शक्ति से सम्बन्धित—श्लेष, प्रतीक, ध्वनि।

उपर्युक्त तत्त्वों का साहित्यिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष

पर पहुँचते हैं कि इनमें से विशुद्ध साहित्यिक तत्त्व ये आठ ही हैं—(१) आवृत्ति (२) वैचित्र्य (३) बिम्बात्मकता (४) अप्रस्तुत-योग (५) वक्रता (६) श्लेष (७) प्रतीक (८) व्यंग्यात्मकता या ध्वनि। शेष तत्त्व या तो विजातीय होने के कारण त्याज्य हैं या उनका समन्वय इन्हीं तत्त्वों में हो जाता है।

(११) परंपरागत सिद्धान्तों का संशोधन—परंपरागत सिद्धान्तों के अध्ययन एवं उनसे उपलब्ध तत्त्वों के विश्लेषण से उनकी तीन दूषित प्रवृत्तियों पर स्पष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है—(१) प्रत्येक सिद्धान्त मूलतः किसी एक तत्त्व को लेकर चलता है किन्तु आगे चलकर वह ऐसे तत्त्वों पर भी अधिकार कर 'लेता' है जो किसी अन्य सिद्धान्त से सम्बद्ध है। (२) प्रत्येक सिद्धान्त में भेदोपभेदों की प्रवृत्ति अनावश्यक रूप में मिलती है। (३) एक सिद्धान्त दूसरे सिद्धान्त की उपलब्धियों को स्वीकार करता हुआ आगे नहीं बढ़ता, अपितु वह पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का प्रतिद्वन्द्वी या स्थानापन्न होने का प्रयास करता है। इन प्रवृत्तियों के कारण एक ही तत्त्व पर अनेक सिद्धान्तों का अधिकार हो गया है जिससे सभी सिद्धान्त परस्पर घुल-मिलकर अस्पष्ट, अनिश्चित, एवं अप्रामाणिक हो गये हैं। उदाहरण के लिए बिहारी के 'नहि पराग नहि मधुर मधु .....' दोहे को लीजिए। इसमें अलंकारवादी अन्योक्ति अलंकार की सत्ता सिद्ध करेगा तो ध्वनिवादी इसे ध्वनि का उदाहरण सिद्ध करेगा तथा प्रतीकवादी, बिम्बवादी आदि भी इसे क्रमशः प्रतीकात्मकता एवं बिम्बात्मकता से युक्त मानेंगे। ऐसी स्थिति में हम किस सिद्धान्त की बात स्वीकार करें, यह समस्या है। एक ही तत्त्व को भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों द्वारा विभिन्न संज्ञाएँ प्रदान कर देने के कारण परंपरागत साहित्य-शास्त्र में इतनी अनिश्चितता एवं अव्यवस्था आगई है कि उसे व्यवहार में लाना कठिन हो गया है। ऐसी स्थिति में हमें उसे संशोधित करते हुए एक ऐसा रूप देने का प्रयास करना चाहिए कि जिससे प्रत्येक सिद्धान्त का क्षेत्र मर्यादित, उसके तत्त्व निश्चित एवं उसके भेदोपभेद सीमित हो सकें। इसी लक्ष्य को सामने रखकर विभिन्न सिद्धान्तों का पुनराख्यान करते हुए हमने उनके सम्बन्ध में अनेक संशोधन प्रस्तुत किये हैं, जो संक्षेप में ये हैं—

(१) अलंकार-सिद्धान्त—अलंकार-सिद्धान्त में इतने अधिक तत्त्वों को स्थान दिया गया है कि जिससे इसके क्षेत्र में वक्रोक्ति, प्रतीक, ध्वनि आदि प्रायः सभी सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिए विरोधमूलक अलंकारों में वक्रोक्ति का तथा गूढार्थ-प्रतीतिमूलक अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाता है, पर वस्तुतः अलंकार का सम्बन्ध केवल एक ही तत्त्व—अप्रस्तुत-योग—से है। जहाँ प्रस्तुत के अलंकरण के लिए अप्रस्तुत का योग होता है वहीं अलंकार की सत्ता मानी जा सकती है। इस दृष्टि से अलंकार का वक्रोक्ति, बिम्ब, प्रतीक, ध्वनि से गहरा अन्तर है। वक्रोक्ति और बिम्ब में तो अप्रस्तुत का समावेश ही नहीं होता तथा प्रतीक और ध्वनि में प्रस्तुत का समावेश या उल्लेख प्रत्यक्ष रूप में नहीं होता जबकि

अलंकार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों की सत्ता प्रत्यक्ष रूप में रहती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम अलंकार के उन सब भेदोपभेदों का वहिष्कार कर सकते हैं जिनमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों की सत्ता प्रत्यक्ष नहीं रहती। ऐसा करने पर केवल सादृश्यमूलक अलंकार ही विशुद्ध अलंकार सिद्ध होते हैं। शेष अलंकार आधारभूत तत्त्वों की दृष्टि से अलंकार की सीमा से बाहर पड़ते हैं, अतः वे त्याज्य हैं।

(२) **वक्रोक्ति**—वक्रोक्ति के स्वरूप का विश्लेषण करने पर उसकी तीन सीमाएँ स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती हैं। एक तो वह द्रव्यगत वैशिष्ट्य पर आधारित न होकर रूपगत वैशिष्ट्य या परिवर्तन पर आधारित होती है; यह सीमा उसे अलंकार सिद्धान्त से पृथक् करती है। दूसरे, वक्रोक्ति वैषम्यमूलक होती है; यह सीमा उसे स्वभावोक्ति और बिम्ब-विधान से पृथक् करती है। तीसरे, वक्रोक्ति लक्षणामूलक होती है। यह सीमा उसे व्यंजनमूलक तत्त्वों—व्यंग्योक्ति, प्रतीक, ध्वनि आदि—से पृथक् करती है। वक्रोक्ति के भेदोपभेदों में से भी अधिकांश वक्रोक्ति के मूल स्वरूप के प्रतिकूल एवं उसके क्षेत्र से असंबद्ध सिद्ध होते हैं, अतः वे त्याज्य हैं। उपर्युक्त सीमाओं की दृष्टि से वक्रोक्ति के वास्तविक क्षेत्र में केवल दो ही भेद—पद-वक्रता एवं वाक्य-वक्रता आते हैं, शेष भेद अन्य सिद्धान्तों के क्षेत्र से सम्बद्ध हैं।

(३) **ध्वनि सिद्धान्त**—‘ध्वनि’ संज्ञा से यह भ्रम होता है कि इसका सम्बन्ध भाषा के नाद (Sound) पक्ष से होगा जबकि यह सिद्धान्त अर्थ-शक्तियों पर आधारित है। वस्तुतः व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य को ही ध्वनि कहते हैं, अतः इसका नामकरण ‘व्यंग्य-प्रधान’ भी किया जा सकता है। ‘गुणीभूत व्यंग्य’ की तुलना में भी यह नाम उपयुक्त है।

ध्वनि या व्यंग्य-प्रधान काव्य की सामान्यतः तीन सीमाएँ मानी जा सकती हैं—(क) ध्वनि का आधार कथ्य नहीं अपितु कथन-विधि है। (ख) ध्वनि का सम्बन्ध केवल व्यंजना से है, अभिधा और लक्षणा से नहीं। (ग) ध्वनि की व्याप्ति पूरे प्रसंग में रहती है। इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुये ध्वनि के विभिन्न भेदों में से अधिकांश का वहिष्कार करना होगा। हमारे विश्लेषण के अनुसार ध्वनि के केवल दो ही रूप या भेद पर्याप्त हैं—(१) व्यंग्य-प्रधान और (२) गुणीभूत व्यंग्य।

(४) **बिम्ब-सिद्धान्त**—बिम्ब के विश्लेषण से उनकी तीन विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—पहली, बिम्ब एक ऐसा शाब्दिक विवरण है जो हमारे मानस-बिम्बों को उदित करता है। दूसरी, बिम्ब में ऐन्द्रिक गुणों का उल्लेख रहता है। तीसरी, बिम्ब में अभिधा-शक्ति ही सक्रिय रहती है। इस दृष्टि से बिम्ब के विभिन्न प्रचलित भेदोपभेद त्याज्य सिद्ध होते हैं।

(५) **प्रतीक सिद्धान्त**—प्रतीक में एक साथ दो अर्थ विद्यमान रहते हैं तथा दूसरा अर्थ आरोपित होता है। प्रतीकों के भी विभिन्न भेद बताये गये हैं जो अनावश्यक सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त संशोधनों के अनुसार परंपरागत सिद्धान्तों के क्षेत्र का निर्धारण एवं उनके आधारभूत तत्त्वों का निर्णय इस प्रकार होता है—

|                          | क्षेत्र                                    | तत्त्व                 |
|--------------------------|--------------------------------------------|------------------------|
| १. अलंकार सिद्धान्त →    | भाषा का अर्थ-पक्ष<br>(केवल अभिधा शक्ति तक) | अप्रस्तुत-योग          |
| २. वक्रोक्ति सिद्धान्त → | भाषा की लक्षणा शक्ति                       | वक्रता                 |
| ३. ध्वनि सिद्धान्त →     | भाषा की व्यंजना शक्ति                      | व्यंग्यात्मकता         |
| ४. बिम्ब सिद्धान्त →     | भाषा की अभिधा-शक्ति                        | स्वाभाविक ऐन्द्रिक गुण |
| ५. प्रतीक सिद्धान्त →    | भाषा की व्यंजना शक्ति                      | प्रतीकात्मकता          |

शेष सिद्धान्तों का सम्बन्ध साहित्य की अपेक्षा अन्य विषयों से अधिक होने के कारण उन्हें त्याग दिया गया है ।

**शैली और आकर्षण सिद्धान्त**—आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त की दृष्टि से शैली का लक्ष्य द्रव्य में निहित शक्ति को उद्दीप्त करना है । द्रव्य की शक्ति को उद्दीप्त करने के लिए उसे इस प्रकार रूपान्तरित किया जाता है जिससे कि उसके घटक तत्त्वों का संतुलन भंग हो जाय । द्रव्य के इसी रूपान्तरण को साहित्य में 'शैली' कहा जाता है । रसायन-शास्त्र के आधार पर इस रूपान्तरण के भी पाँच भेद किये जा सकते हैं—  
(१) संयोजनात्मक रूप-विधान (२) विश्लेषणात्मक रूप-विधान (३) विस्थापनात्मक रूप-विधान (४) विनिमयात्मक रूप-विधान (५) समावयात्मक रूप-विधान । परंपरागत सिद्धान्तों द्वारा निर्देशित शैली सम्बन्धी प्रायः सभी तत्त्वों का समन्वय इन पाँच प्रकार के रूप-विधानों में हो जाता है ; देखिये—

१. संयोजनात्मक रूप-विधान = अलंकार (अप्रस्तुत का योग)
२. विश्लेषणात्मक रूप-विधान = बिम्ब-विधान
३. विस्थापनात्मक रूप-विधान = प्रतीक और ध्वनि
४. विनिमयात्मक रूप-विधान = लाक्षणिकता और वक्रोक्ति ।
५. समावयात्मक रूप-विधान = आवृत्ति, अनुप्रास आदि ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य वस्तुतः मानसिक द्रव्य का एक ऐसा रूपान्तरण मात्र है जिसकी शक्ति उद्दीप्त रूप में होती है । जिस प्रकार वैज्ञानिक भौतिक द्रव्य को रूपान्तरित करता हुआ उसकी अन्तर्निहित शक्ति को उद्दीप्त करके विभिन्न चामत्कारिक कार्य संपादित करता है, वैसे ही साहित्यकार अपने मानसिक द्रव्य को मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से उद्दीप्त एवं रूपान्तरित करता हुआ साहित्य का सर्जन करता है । किन्तु एक का द्रव्य स्थूल एवं बाह्य होता है जबकि दूसरे का सूक्ष्म एवं आन्तरिक ; इसी लिए वे दो भिन्न दिशाओं की ओर अभिमुख हो जाते हैं अन्यथा व्यापक दृष्टि से वे एक ही शक्ति के विभिन्न रूपों की जागृति एवं उद्दीप्ति में संलग्न प्रतीत होते हैं । संभवतः यही कारण है कि साहित्य और विज्ञान के अनेक नियमों में परस्पर गहरा सादृश्य परिलक्षित होता है ।

साहित्य-विज्ञान : तालिका रूप में निष्कर्ष

| साहित्य का पक्ष                       | तत्त्व                                      | साहित्य-विज्ञान के अनुसार सम्बन्धित वर्ग | परंपरागत साहित्य-शास्त्र के अनुसार सम्बन्धित तत्त्व या सिद्धान्त । (संशोधित रूप में) |
|---------------------------------------|---------------------------------------------|------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------------------|
| १. साहित्य की शक्ति या आत्मा (Energy) | आकर्षण शक्ति                                | १. भावात्मक आकर्षण                       | रसात्मकता, आनन्द,                                                                    |
|                                       |                                             | २. बौद्धिक आकर्षण                        | रमणीयता, चामत्कारिकता                                                                |
|                                       |                                             | ३. ऐन्द्रिक आकर्षण                       | सौन्दर्य, शोभा, चाहता,                                                               |
| २. साहित्य का द्रव्य (Matter)         | १—भाव                                       | भाव-प्रधान साहित्य                       | रस-सिद्धान्त (शान्त रस को छोड़कर)                                                    |
|                                       | २—विचार                                     | विचार-प्रधान साहित्य                     | उदात्त, औचित्य, शान्त रस                                                             |
|                                       | ३—कल्पना                                    | कल्पना-प्रधान साहित्य                    | कल्पना-सिद्धान्त,                                                                    |
| ३. साहित्य का रूप पक्ष या शैली (Form) | १. अप्रस्तुत योग                            | संयोजनात्मक रूप-विधान                    | अलंकार                                                                               |
|                                       | २. बिम्बात्मकता (ऐन्द्रिक गुणों का विस्तार) | विश्लेषणात्मक रूप-विधान                  | बिम्ब-विधान                                                                          |
|                                       | ३. व्यंग्यात्मकता                           | विस्थापनात्मक रूप-विधान                  | प्रतीक एवं ध्वनि                                                                     |
|                                       | ४. लाक्षणिकता                               | विनिमयात्मक रूप-विधान                    | वक्रोक्ति                                                                            |
|                                       | ५. क्रम बढ़ता, आवृत्ति, लय आदि ।            | समावयात्मक रूप-विधान                     | अनुप्रास, छन्द, तुक आदि                                                              |

परिशिष्ट ग—

# आधारभूत विषयों की संक्षिप्त रूप-रेखा

## १—भारतीय साहित्य-शास्त्र



प्रस्तुत प्रबन्ध में वैसे तो प्रसंगानुसार अनेक विषयों—व्याकरण, भाषा-विज्ञान साहित्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन-शास्त्र, जीव-विज्ञान, भ्रूण-विज्ञान, दर्शन-शास्त्र आदि—की सामग्री का उपयोग किया गया है किन्तु तीन विषयों—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र—का उपयोग इसमें विशेष रूप से हुआ है। इस दृष्टि से हम इन्हें आधारभूत विषयों के रूप में स्वीकार करते हुए, इनका संक्षिप्त परिचय क्रमशः प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय साहित्य-शास्त्र का आरंभ सामान्यतः भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' (लगभग प्रथम शती ईस्वी) से माना जाता है। आचार्य भरत से लेकर अब तक के साहित्य-शास्त्र के इतिहास को हम सामान्यतः पाँच कालों में विभक्त कर सकते हैं—(१) स्थापना काल—पाँचवीं शती के अन्त तक। (२) नव अन्वेषण काल—छठी शती से ग्यारहवीं शती तक। (३) संशोधन काल—बारहवीं शती से सत्रहवीं शती तक। (४) पद्यानुवाद काल—सत्रहवीं शती से उन्नीसवीं शती के मध्य तक (५) नवोत्थान काल—उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण से अब तक। इन पाँचों कालों की उपलब्धियों पर यहाँ क्रमशः विचार किया जाता है।

१. स्थापना काल—यद्यपि आचार्य भरत से भी पूर्व अनेक आचार्य हो गये होंगे, किन्तु इस काल के उपलब्ध ग्रन्थों में केवल भरतमुनि के ही 'नाट्य-शास्त्र' का नाम आता है, अतः आचार्य भरत को ही भारतीय साहित्य-शास्त्र की स्थापना का श्रेय दिया जा सकता है। उन्होंने नाट्य-कला का सर्वांगीण विवेचन करने के साथ-साथ नाटक से सम्बन्धित अन्य कलाओं तथा साहित्य (काव्य) के भी विभिन्न तत्त्वों पर प्रकाश डाला है। साहित्य-शास्त्र में उनकी सबसे बड़ी देन रस-सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का लक्ष्य पाठक या श्रोता की भावनाओं को उद्बलित करके उसे आनन्द प्रदान करना है—इसी आनन्द को साहित्य-शास्त्रीय

शब्दावली में 'रस' कहते हैं। इस लक्ष्य की पूर्ति उसी स्थिति में संभव है जबकि साहित्य की सामग्री को किसी एक मूल भावना (या स्थायी भाव) से संबद्ध करके प्रस्तुत किया जाय। या दूसरे शब्दों में, सारी रचना के केन्द्र में कोई एक स्थायीभाव स्थित रहे तथा उसके विभिन्न अंश उसी स्थायीभाव के विभिन्न अवयवों के रूप में स्थित रहें। वे अवयव भी तीन प्रकार के माने गये हैं—विभाव, अनुभाव और संचारी भाव। वस्तुतः ये तीनों अवयव स्थायी भाव के ही घटक तत्त्व हैं तथा इन्हीं के माध्यम से स्थायीभाव प्रस्तुत होता है। इसी तथ्य को सूत्र रूप में प्रस्तुत करते हुए आचार्य भरत ने कहा था—'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद् रस-निष्पत्तिः' अर्थात् विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। परवर्ती व्याख्याताओं—ने इस सूत्र की अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए रस-सिद्धान्त का विकास कई रूपों में किया है, जिस पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आचार्य भरत ने रस-सिद्धान्त के रूप में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जो आज भी प्रचलित एवं मान्य है।

(२) नव अन्वेषणकाल—भारतीय साहित्य-शास्त्र का सर्वतोमुखी विकास इस काल (छठी शती से ग्यारहवीं शती तक) में हुआ। इसी काल में एक ओर भामह (छठी शती), दंडी (सातवीं शती), वामन (आठवीं शती), आनन्दवर्द्धनाचार्य (दसवीं शती), एवं धेमेन्द्र (ग्यारहवीं शती) जैसे मौलिक चिन्तक उत्पन्न हुए, जिन्होंने साहित्य के नये-नये तत्त्वों का अन्वेषण करते हुए अनेक नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की तो दूसरी ओर भट्टलोलट (८-९-वीं शती), शंकुक, (नवीं शती), भट्टनायक (नवीं-दसवीं शती), अभिनवगुप्त (दसवीं-ग्यारहवीं शती), राजशेखर (१०वीं शती), धनंजय (१०वीं शती), महिम भट्ट (१०-११वीं शती) और भोजराज (११वीं शती) जैसे प्रतिभा-शाली व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों की स्थापनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण एवं तीक्ष्ण खंडन-मंडन करते हुए भारतीय साहित्य-शास्त्र को व्यापक एवं गंभीर रूप प्रदान किया।<sup>१</sup> इस युग की देन को हम यहाँ मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(क) नवीन सिद्धान्तों की स्थापना और (ख) नवीन व्याख्याएँ। यहाँ दोनों पर क्रमशः विचार किया जाता है।

(क) नवीन सिद्धान्तों की स्थापना—इस युग में साहित्य सम्बन्धी पाँच नये महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की स्थापना हुई—(१) अलंकार सिद्धान्त (२) रीति सिद्धान्त (३) ध्वनि सिद्धान्त (४) वक्रोक्ति सिद्धान्त और (५) औचित्य सिद्धान्त। यद्यपि ये सिद्धान्त पर्याप्त मौलिक हैं किन्तु हमें यहाँ इस तथ्य को न भूल जाना चाहिए कि इनमें से अधिकांश का प्रेरणा-स्रोत भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र ही है। आचार्य भरत

---

१. आचार्यों का जीवन-काल श्री बलदेव उपाध्याय के 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' के आधार पर दिया गया है।

ने विभिन्न प्रसंगों में अलंकार, गुण-दोष, औचित्य आदि तत्त्वों की चर्चा गौण रूप से की थी ; परवर्ती अलंकार, रीति एवं औचित्य संप्रदाय के प्रवर्तकों ने इसी चर्चा से संकेत पाकर स्वतंत्र एवं व्यापक सिद्धान्तों की स्थापना की है। इसी प्रकार वक्रोक्ति की चर्चा भी वक्रोक्तिवाद के प्रवर्तन के बहुत पूर्व भामह एवं दंडी द्वारा हो चुकी थी तथा ध्वनि का आधार भी पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पर इससे इनका महत्त्व कम नहीं होता।

उपर्युक्त पाँचों सिद्धान्तों में क्रमशः काव्य के पाँच पक्षों पर बल दिया गया है। अलंकार में काव्य शैली की बाह्य साज-सज्जा पर, रीति में काव्य के स्वाभाविक गुणों, जैसे—शुद्धता, संक्षिता, स्पष्टता, नाद-सौन्दर्य आदि पर, ध्वनि में उसके अर्थ की व्यंग्यात्मकता पर, वक्रोक्ति में अर्थ की लाक्षणिकता पर और औचित्य में विषय और शैली के पारस्परिक संतुलन पर सर्वाधिक बल दिया गया है। इस दृष्टि से प्रथम चार सिद्धान्तों को रूपवादी (Formalist) तथा अंतिम को वस्तुवादी कहा जा सकता है। रूपवादी सिद्धान्तों में काव्य के रूप को आकर्षक बनाने के लिए क्रमशः चार विधियों पर प्रकाश डाला गया है—(१) बाह्य तत्त्वों के द्वारा अलंकरण (२) नाद-सौन्दर्य (३) अर्थ की व्यंग्यात्मकता और (४) अर्थ का वैचित्र्य। किन्तु इन्हें इसी से संतोष नहीं हुआ; प्रत्येक सिद्धान्त के अनुयायियों ने अन्य सिद्धान्तों के द्वारा प्रस्तुत विधियों को भी नाम बदल कर अपने सिद्धान्त के क्षेत्र में समाविष्ट कर लेने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में वे साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से ग्रसित रहे। जिस प्रकार एक चक्रवर्ती सम्राट धरती पर किसी भी अन्य शासक की स्वतंत्र सत्ता को मान्यता नहीं देना चाहता, वह सभी शासकों की भूमि पर अपना ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अधिकार स्थापित कर लेना चाहता है, लगभग उसी प्रकार इन सिद्धान्तों के अनुयायियों ने भी अपने सिद्धान्त के अतिरिक्त किसी अन्य सिद्धान्त की स्वतंत्र सत्ता को मान्यता न देकर उसकी भूमि को अपने ही क्षेत्र में ले लेने का प्रयास किया है। एक ओर अलंकारवादियों ने रस को एक अलंकार मात्र मान लिया तो वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने सारे अर्थालंकारों को वाक्य-वक्रता में स्थान देकर अलंकार का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया। इसी प्रकार ध्वनिवादियों ने 'अलंकार-ध्वनि' भेद की कल्पना करके अलंकार सिद्धान्त के सारे वैभव को हस्तगत कर लेना चाहा तो दूसरी ओर अलंकारवादियों ने ध्वनि के ही विभिन्न रूपों को 'गूढार्थ-प्रतीतिमूलक' अलंकारों की संज्ञा देदी। पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता एवं क्षेत्र-विस्तार की इस प्रवृत्ति के कारण एक ओर ये सिद्धान्त अनिश्चित, अमर्यादित एवं अप्रामाणिक हो गये तो दूसरी ओर इससे साहित्य-शास्त्र भी अव्यवस्थित एवं असंतुलित हो गया।

(ख) नवीन व्याख्याएँ—इस युग में नवीन सिद्धान्तों के आविष्कार के साथ-साथ परम्परागत मतों की नवीन व्याख्याएँ भी हुईं। इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य भट्टलोल्लट, शंभुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त का है। इन्होंने

मुख्यतः रस सिद्धान्त की ही नई व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। आचार्य भट्टलोल्लट ने भरत के रस-सूत्र की नई व्याख्या करते हुए अपने 'उत्पत्तिवाद' की स्थापना की। भरत का रस सिद्धान्त संयोजनवादी था—जिस प्रकार विभिन्न तत्त्वों के संयोजन से किसी वस्तु या कार्य की योजना होती है, वैसे ही विभाव, अनुभाव, संचारी के संयोजन से रस-निष्पत्ति का कार्य संपादित होता है। भरत-सूत्र का 'संयोग' शब्द भी इसी तथ्य को सूचित करता है। भट्टलोल्लट ने इसके स्थान पर रस को विभावों से उत्पन्न, संचारी भावों से पुष्ट एवं अनुभावों से व्यक्त सिद्ध करते हुए निष्पत्ति का अर्थ क्रमशः तीनों प्रसंगों में उत्पत्ति, पुष्टि एवं अभिव्यक्ति सिद्ध किया। इस प्रकार भट्टलोल्लट ने रस-निष्पत्ति को यांत्रिक रचना-व्यापार के स्थान पर क्रमिक विकासवादी रूप प्रदान किया जो अधिक वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक है। आचार्य शंकुक ने भट्टलोल्लट की व्याख्या का खण्डन करते हुए 'अनुमितिवाद' की स्थापना की। उन्होंने न्याय-शास्त्र के अनुमानवाद को आधार बनाते हुए रस की प्रत्यक्ष अनुभूति के स्थान पर उसकी अप्रत्यक्ष अनुमिति की संभावना को सिद्ध किया। इस दृष्टि से आचार्य शंकुक की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने पहली बार इस तथ्य का उद्घाटन किया कि रस लौकिक जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियों से भिन्न कोटि की अनुभूति है। दूसरे, उन्होंने स्थायीभाव और रस का भी अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया, किन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। आचार्य भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति की क्रिया को तीन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं—अभिधा (अर्थ-बोध), भावकत्व एवं भोजकत्व—में विभाजित करते हुए साधारणीकरण के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने भट्टनायक की स्थापनाओं को निराधार सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु वे इसमें अधिक सफल नहीं हुए। आधुनिक साहित्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र की नवीनतम अनुसंधानों से यह सिद्ध हो गया है कि भट्टनायक का मत बहुत महत्वपूर्ण था। आधुनिक युग में एक ओर आई० ए० रिचर्ड्स ने काव्यास्वादन की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए ऐसी प्रक्रियाओं का विवेचन किया है जो उपर्युक्त तीनों प्रक्रियाओं के अनुरूप हैं, तो दूसरी ओर सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में भाववादी चिन्तकों ने इम्पैथी (Empathy) सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है, जिसे भट्टनायक के शब्दों में 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त कह सकते हैं। इम्पैथी का अर्थ समानुभूति या साधारणीकरण ही होता है। अस्तु, भट्टनायक की देन का आधुनिक दृष्टि से भी बहुत महत्व है।

अभिनव गुप्त ने भट्टनायक की अनेक मान्यताओं का खंडन करते हुए भी साधारणीकरण को स्वीकार किया है। किन्तु अब तक रस-निष्पत्ति के सभी व्याख्याताओं द्वारा काव्य के पाठक या श्रोता के व्यक्तित्व की उपेक्षा होती रही, कसी का भी ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया कि रसानुभूति में काव्य-वस्तु के अतिरिक्त स्वयं पाठक का भी थोड़ा-बहुत योग-दान रहता है। अभिनव गुप्त ने इस ओर ध्यान देते हुए अभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की। उनके मतानुसार काव्या-

स्वादन से पाठक के हृदय में किसी नये तत्त्व की सृष्टि नहीं होती अपितु उसकी जन्मजात वासनाएँ ही उद्बलित होकर व्यक्त हो जाती हैं। ये वासनाएँ सभी प्राणियों में विद्यमान होती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में वासनाओं को सहज प्रवृत्तियों (Instincts) का नाम दिया जा सकता है। इस दृष्टि से अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त, फ्रायड के वासना सिद्धान्त एवं फ्रांचे के अभिव्यक्तिवाद के बहुत समीप पड़ता है। अरस्तू और अभिनवगुप्त—दोनों ने ही काव्य के माध्यम से वासनाओं के विरेचन या उनकी अभिव्यक्ति को स्वीकार किया है किन्तु एक ने केवल दूषित वासनाओं पर ही बल दिया जबकि दूसरे ने ऐसा नहीं किया। फ्रायड ने भी वासनाओं की अभिव्यक्ति को स्वीकार किया पर वे सारा बल काम-वासना पर ही केन्द्रित कर देते हैं जबकि अभिनव गुप्त ऐसा नहीं करते। फ्रांचे के अभिव्यक्तिवाद का सम्बन्ध मुख्यतः काव्य-रचयिता की सहजानुभूति से है जबकि अभिनव गुप्त का मत पाठक की सहज प्रवृत्तियों से सम्बद्ध है। अस्तु, इस अन्तर के होते हुए भी अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में नवीन सिद्धान्तों की स्थापना एवं पुराने सिद्धान्तों की नयी व्याख्या—इन दोनों ही क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। वस्तुतः इस युग को हम भारतीय साहित्य-शास्त्र का स्वर्ण-युग कह सकते हैं। वैसे भी यह भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग माना जाता है।

(३) संशोधन काल (११वीं शती से १७वीं शती तक)—इस काल में मम्मट (११-१२वीं शती), रुयक (१२वीं शती), हेमचन्द्र (१२वीं शती), रामचन्द्र गुण चन्द्र (१२वीं शती), जयदेव (१३वीं शती), विश्वनाथ (१३-१४वीं शती), भानुदत्त (१३-१४वीं शती), जगन्नाथ (१७वीं शती) प्रभृति आचार्य हुए जिन्होंने किसी नये सिद्धान्त की स्थापना न करके पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों में किञ्चित् संशोधन एवं समन्वय प्रस्तुत किया। इस युग के आचार्यों में पूर्ववर्ती आचार्यों जैसी कट्टरवादिता का अभाव मिलता है ; वे किसी एक ही सिद्धान्त से न बंध कर विभिन्न सिद्धान्तों की उपलब्धियों को स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि इनके ग्रन्थों में रस, ध्वनि, अलंकार रीति, वक्रोक्ति आदि सभी को थोड़ा-बहुत स्थान प्राप्त हुआ है, यह दूसरी बात है कि वे किसी को कम महत्त्व देते हैं और किसी को अधिक। किन्तु उनकी यह समन्वय-वादिता किसी प्रौढ़, व्यापक एवं मौलिक दृष्टिकोण की सूचक नहीं है अपितु, सार-संकलन की प्रवृत्ति की द्योतक है। इनमें एक-दो आचार्यों को छोड़कर शेष में विवेचन की गंभीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं निष्कर्षों की मौलिकता का प्रायः अभाव है। इस दृष्टि से यह युग भारतीय साहित्य-शास्त्र की जरा अवस्था का सूचक है।

(४) पद्यानुवाद काल (१७वीं—१९वीं शती)—इस काल में संस्कृत का स्थान आधुनिक भाषाओं ने ले लिया था, अतः भारतीय साहित्य-शास्त्र भी अनेक प्रादेशिक भाषाओं में विभक्त हो गया। यहाँ हम केवल हिन्दी की दृष्टि से इसे पद्यानुवाद-

काल कह सकते हैं क्योंकि इस युग में केशव, चिन्तामणि, कुलपति सोमनाथ, भिखारी दास, प्रतापसाहि आदि आचार्य हुए जिन्होंने पद्यबद्ध रीति ग्रन्थ लिखे। यद्यपि इस क्षेत्र में शताधिक कवि अवतरित हुए किन्तु शास्त्रीय विवेचन का कार्य कवियों के वश का काम नहीं था। यही कारण है कि इनकी देन का मूल्यांकन करते हुए डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र को लिखना पड़ा—“यह बात स्पष्ट रूप में कही जा सकती है कि हिन्दी के अधिकांश लेखकों (कवियों) का लक्षण भाग अस्पष्ट अथवा अपूर्ण है।...ये आचार्यत्व के अयोग्य हैं। वे कवि ही प्रधान रूप से हैं और उनका आचार्यत्व या शास्त्रीय विवेचन का प्रयत्न बहुत सफल नहीं है।”<sup>१</sup> इसी निष्कर्ष की पुष्टि डा० सत्यदेव चौधरी ने भी की है। उनके शब्दों में—“चिन्तामणि आदि आचार्यों ने भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास में कोई योग-दान नहीं दिया—यह स्पष्ट है। हिन्दी के वर्तमान काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण में भी इनका योग-दान नहीं है—यह भी स्पष्ट है।”<sup>२</sup>

५. नवोत्थान काल (१९वीं शती के अंतिम चरण से अब तक)—इस काल को भी हम मुख्यतः तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं—(१) भारतेन्दु-द्विवेदी-युग (१८७५-१९२५) (२) शुक्ल युग (१९२६-१९४०) (३) शुक्लोत्तर युग (१९४१ से अब तक) इनमें से प्रथम युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्र-बन्धु, श्याम सुन्दर दास प्रभृति विद्वान् आते हैं जिन्होंने अपने कुछ लेखों एवं पुस्तकों में साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने “नाटक” ग्रन्थ में नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए प्राचीन सिद्धान्तों के नवीनीकरण या प्राचीन और नवीन के समन्वय पर बल दिया। उन्होंने भारतीय नाटकों के साथ यूरोपीय नाटकों की भी चर्चा करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के समन्वय की ओर संकेत किया। (डा० श्याम सुन्दर दास ने इस प्रौढ ग्रन्थ को किसी अन्य का रचित बताया है, जो ठीक नहीं। भारतेन्दु ने इसे अपने आराध्यदेव को समर्पित करते हुए भूमिका में इसे स्वरचित बताया है, अतः इस पर संदेह करना अनुचित है। डा० श्याम सुन्दर दास जी की शंका का निराकरण हम अन्यत्र विस्तार से कर चुके हैं।) आगे चलकर अन्य विद्वानों ने भी भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की सामग्री को हिन्दी गद्य में प्रस्तुत किया है। यद्यपि इनमें मौलिकता का अभाव है किन्तु इन्होंने रीतिकालीन दृष्टिकोण, परम्परा और शैली को त्याग कर नये दृष्टिकोण और नयी शैली (गद्य में विवेचन करने की शैली) का प्रवर्तन करके स्तुत्य कार्य किया। शुक्ल-

१. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृ० ३५।

२. हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य : डा० सत्यदेव चौधरी ; पृ० सं०, पृ० ७५०।

युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा परम्परागत साहित्य-शास्त्र को नया रूप प्राप्त हुआ। उन्होंने आधुनिक युग की परिवर्तित परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्राचीन सिद्धान्तों की निजी दृष्टि से व्याख्या की—विशेषतः रस-सिद्धान्त की। इस क्षेत्र में उनकी देन महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने आनन्दवादी रस-सिद्धान्त को नीतिवादिता से समन्वित करते हुए रस की दो कोटियाँ निर्धारित की हैं। जहाँ हमारा काव्य के आश्रय से तादात्म्य हो जाता है वहाँ उच्चकोटि की रस-दशा प्राप्त होती है अन्यथा—नायक के दुष्चरित्र होने की स्थिति में—मध्यम कोटि की रसानुभूति होती है। रस के विभिन्न स्थायी भावों की भी उन्होंने विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। अस्तु, इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की देन महत्त्वपूर्ण है।

शुक्लोत्तर युग के साहित्य-शास्त्रीय विद्वानों में डा० गुलाबराय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डा० गुलाबराय ने भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों को सरल एवं सुबोध शैली में प्रस्तुत करके परवर्ती अनुसंधान-कर्त्ताओं का मार्ग प्रशस्त किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मुख्य क्षेत्र ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक समीक्षा का है, किन्तु इस क्षेत्र में भी उन्होंने अनेक लेखों में समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। आचार्य वाजपेयी का भी मुख्य क्षेत्र व्यावहारिक समीक्षा का है फिर भी उन्होंने अनेक निबन्धों में भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र को निकट लाने का स्तुत्य प्रयास किया है। डा० नगेन्द्र का असली क्षेत्र साहित्य-शास्त्र है। इस क्षेत्र में उनकी देन तीन रूपों में स्वीकार की जा सकती है; एक तो उन्होंने परंपरागत भारतीय सिद्धान्तों की नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं जो आधुनिकता एवं मौलिकता से युक्त हैं। रस-निष्पत्ति की नई व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि पाठक का तादात्म्य काव्यगत आश्रय से नहीं अपितु स्वयं काव्य-रचयिता से ही होता है। इसी प्रकार ध्वनि, रीति आदि के क्षेत्र में भी उन्होंने अनेक पूर्व प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण किया है। दूसरे, उन्होंने पाश्चात्य काव्य-शास्त्र को भी विस्तृत व्याख्याओं के सहित हिन्दी में प्रस्तुत किया है तथा करवाया है। तीसरे, प्राचीन और नवीन, भारतीय और पाश्चात्य तत्त्वों की पारस्परिक तुलना के द्वारा उनके सपेक्ष महत्त्व का दिग्दर्शन कराया है। वस्तुतः उन्होंने हिन्दी-समीक्षा को एक ऐसी व्यापक भूमि प्रदान की है जिससे विश्व-साहित्य-शास्त्र के दो चरम छोरों—ग्रीक एवं संस्कृत साहित्य शास्त्र—का गुम्फन उसमें हो जाता है।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त आचार्य बलदेव उपाध्याय, श्री रामदहिन मिश्र, डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र, डा० गोविन्द त्रिगुणायत, डा० रामलाल सिंह, डा० भोला शंकर व्यास, डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, श्री राममूर्ति त्रिपाठी, डा० सत्यदेव चौधरी आदि विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में भारतीय साहित्य-शास्त्र के विभिन्न पक्षों एवं

सिद्धान्तों का विवेचन आधुनिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि परम्परागत भारतीय साहित्य-शास्त्र हिन्दी में आकर और भी अधिक विकसित एवं प्रौढ हो गया है। 'साहित्य-विज्ञान' के रूप में वह शास्त्रीय रूढ़ियों एवं परंपरागत असंगतियों से मुक्त होकर नये रूप में प्रस्तुत हो रहा है—कदाचित् इसे भी उसके विकास की एक नई मंजिल माना जा सके। हिन्दी के अतिरिक्त मराठी, बंगला, आदि के क्षेत्रों में भी कार्य हुआ, जिसका परिचय देने में हम अपनी अल्पज्ञता के कारण असमर्थ हैं।



# आधारभूत विषयों की संक्षिप्त रूप-रेखा

## २—पाश्चात्य काव्य शास्त्र



पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के इतिहास को सामान्यतः तीन कालों में विभक्त किया जाता है—(१) प्राचीन काल—५वीं शती ई० पू० से ४थी शती ई० तक। (२) मध्य काल—५वीं शती ई० से १५वीं शती तक। (३) आधुनिक काल—१६वीं शती से अब तक। यहाँ तीनों कालों का संक्षिप्त परिचय क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है। (१) प्राचीनकाल—इस काल के आचार्यों में प्लेटो (४२७ ई० पू०—३४७ ई० पू०), अरस्तू (३८४ ई० पू०—३२२ ई० पू०), लॉजाइनस (पहली शती), होरेस (६५ ई० पू०—८ ई० पू०), सिसरो (१०६-४३ ई०), क्विण्टिलियन (४०-११८ ई०), डिमेट्रियस (प्रथम शती) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्लेटो मूलतः साहित्य-शास्त्री नहीं थे, उन्होंने अपने 'गणतन्त्र' में राजनीति के सिद्धान्तों की विवेचना करते हुई प्रासंगिक रूप में काव्य की चर्चा की है। काव्य के सम्बन्ध में उनका विचार था कि वह मिथ्या संसार की भी मिथ्या अनुकृति है—अतः वह सत्य से दुगुनी दूर होता है\*। दूसरे, वे जीवन एवं समाज के लिए काव्य को हेय समझते थे क्योंकि इससे हमारी भावनाएँ उद्वेलित हो जाती हैं। प्लेटो के विचार से एक आदर्श गणराज्य में किसी भी ऐसी वस्तु को स्थान नहीं दिया जा सकता जो लोगों की भावनाओं को उभार कर उन्हें दुर्बल एवं चरित्रहीन बनावे। इसीलिए उन्होंने अपने आदर्श राज्य में से कविता का निष्कासन करते हुए कहा था—“अतः अब हमारे लिए यह न्याय होगा कि हमें जिस देश को सुशसित रखना है उसमें कवि का प्रवेश निषेध कर दें क्योंकि वह आत्मा के इस (दुर्बल) अंश को जागृत, पोषित और परिपुष्ट करता है तथा विवेक-अंश का क्षय करता है।”<sup>१</sup> इस प्रकार प्लेटो ने काव्य का विरोध कहते हुए उसके सम्बन्ध में दो तथ्यों पर प्रकाश डाला—(१) काव्य प्रकृति की अनुकृति है। (२) काव्य हमारी भावनाओं को उद्वेलित करत है।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने उपर्युक्त दोनों तथ्यों को स्वीकार करते हुए भी कविता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। उन्होंने दोनों तथ्यों को दो महत्त्वपूर्ण

सिद्धान्तों का रूप दिया—(१) अनुकृति सिद्धान्त एवं (२) विरेचन सिद्धान्त । जहाँ प्लेटो ने अनुकृति-जन्य आनन्द को मिथ्या वस्तु पर आधारित आनन्द घोषित किया था वहाँ अरस्तू ने इसे ज्ञानार्जनजन्य आनन्द माना । उन्होंने प्रतिपादित किया—“जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है उन्हीं की यथावत् अनुकृति का भावन आह्लादकारी बन जाता है, जैसे किसी अत्यन्त जघन्य पशु अथवा श्व की रूप-आकृति का उदाहरण लिया जा सकता है । इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से अत्यन्त प्रबल आनन्द प्राप्त होता है । केवल दार्शनिक को ही नहीं सामान्य व्यक्ति को भी—जिसकी ज्ञानार्जन-क्षमता अपेक्षाकृत कहीं सीमित होती है । अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसका भावन करने में वह कुछ ज्ञानप्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है—शायद वह अपने मन में कहता है, ‘अरे ! यह तो अमुक है !’—क्योंकि यदि आपने मूल वस्तु को नहीं देखा तो आपका आनन्द अनुकरण-जन्य न होगा ; वह अंकन, रंग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा ।”<sup>२</sup> इस प्रकार अरस्तू महोदय ने प्लेटो के इस आक्षेप का निराकरण करने का प्रयास किया कि काव्य अनुकरण-मूलक होने के कारण अज्ञान या मिथ्या का प्रचार करता है या काव्यजन्य आनन्द मिथ्या आनन्द है । अवश्य ही उन्हें इसमें सफलता मिल गई किन्तु उनके प्रतिपादन में कुछ दूसरे प्रकार की असंगतियाँ आ गई । वे एक ओर तो काव्य-जन्य आनन्द को ज्ञानार्जन का आनन्द बताते हैं पर दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि यह आनन्द उसी अवस्था में मिलेगा जबकि हमने कला में प्रस्तुत वस्तु को पहले देखा हो ; ऐसी स्थिति में—देखी हुई वस्तु को पुनः देखने में—ज्ञानार्जन की बात कैसे स्वीकार की जा सकती है ! नई वस्तु को देखना ज्ञानार्जन कहलाता है ; देखी हुई को पुनः देखना ‘ज्ञानार्जन’ नहीं कहलाता अपितु ‘प्रत्यभिज्ञा’ या ‘पहचान’ कहलाता है । दूसरे, ज्ञानार्जन से आनन्द की उपलब्धि की बात भी स्वीकार नहीं की जा सकती, अन्यथा काव्य की अपेक्षा इतिहास, भूगोल, दर्शन एवं विज्ञान की पुस्तकों से अधिक आनन्द मिलता, क्योंकि वे काव्य की अपेक्षा अधिक ज्ञान प्रदान करती हैं । अतः हम आचार्य अरस्तू के उपर्युक्त मंतव्य को स्वीकार नहीं कर सकते । वस्तुतः उन्होंने इस प्रकार की युक्तियाँ अपने युग के प्लेटोवादियों की तुष्टि के लिए ही कहीं थीं । किन्तु उनकी संतुष्टि इससे भी और अच्छे ढंग से हो सकती थी । प्लेटो मानते थे कि वास्तविक सत्य तो केवल सूक्ष्म विचार (Idea) के रूप में अध्यात्म जगत् में ही स्थित है, भौतिक जगत् में जो कुछ है वह उस सूक्ष्म विचार का प्रतिबिम्ब मात्र है तथा इसीलिए मिथ्या है । दूसरे शब्दों में सूक्ष्म जगत् सत्य है और स्थूल भौतिक जगत् मिथ्या है । इस दृष्टि से काव्य के पक्ष में हम तर्क दे सकते हैं कि कवि स्थूल भौतिक जगत् को पुनः सूक्ष्म आइडिया (Idea) में परिवर्तित कर

देता है—मिथ्या जगत् को सत्य विचार में बदल देता है। जिस प्रकार गणित का नियम है—Two negatives makes a positive ; उसी प्रकार द्विगुणित मिथ्या=मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति=का अर्थ सत्य किया जा सकता है ; कम से कम काव्य के प्रसंग में तो यह बात सर्वांश में लागू होती है। इस प्रकार प्लेटो के ही तर्क से उनके आक्षेप का निराकरण किया जा सकता था।

प्लेटो के दूसरे आक्षेप का निराकरण करते हुए अरस्तू ने विरेचन-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने त्रासदी का विवेचन करते हुए लिखा—“त्रासदी किसी गंभीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है” जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।”<sup>३</sup> आगे संगीत-कला के प्रसंग में उन्होंने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा—“करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति—प्रत्येक भावुक व्यक्ति—इस प्रकार का अनुभव करता है, और दूसरे भी, अपनी-अपनी संवेदन-शक्ति के अनुसार प्रायः सभी, इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं, उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार विरेचक राग मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं।”<sup>४</sup> अस्तु, विरेचन-सिद्धान्त से यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य दूषित भावनाओं के विरेचन या निष्कासन के द्वारा हमारे मन को निर्दोष बनाता है—अतः प्लेटो का यह आक्षेप कि काव्य दूषित भावनाओं को उभार कर समाज को दुर्बल एवं चरित्र-हीन बनाता है, मिथ्या सिद्ध हो जाता है। यहाँ एक प्रश्न अवश्य उठता है कि यदि त्रासदी से हमारी दूषित भावनाएँ विरेचित हो जाती हैं तो क्या कामदी से हमारी निर्दोष या पवित्र भावनाएँ भी विरेचित हो जाती हैं ? ऐसी स्थिति में जहाँ त्रासदी से नैतिक लाभ होता है वहाँ कामदी से नैतिक हानि होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं है तो कामदी से आनन्दानुभूति का क्या आधार है ? वस्तुतः हमारे विचार से अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त केवल त्रासदी पर ही आधारित होने के कारण एकांगी एवं अपूर्ण है। वासनाओं की अभिव्यक्ति भारतीय आचार्य अभिनव गुप्त ने भी मानी है, किन्तु उनका अभिव्यक्तिवाद केवल त्रासदी पर ही नहीं, सभी प्रकार के काव्य पर लागू होता है, अतः वह अधिक व्यापक एवं संगत है। इस दृष्टि से ‘विरेचन’ का भी अर्थ ‘अभिव्यक्ति’ करते हुए उसे अधिक व्यापक एवं संगत रूप दिया जा सकता है।

उपर्युक्त त्रुटियों के होते हुए भी अरस्तू का काव्य-विवेचन बहुत प्रौढ़ है। उन्होंने काव्य के विभिन्न रूपों एवं उसके विभिन्न तत्त्वों की बहुत ही स्पष्ट रूप में व्याख्या की है, इसीलिए वे समस्त पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के आदि आचार्य माने जाते हैं।

इस काल के तीसरे प्रमुख आचार्य लॉजानस (Longinus) हैं जिन्होंने अपने

३. अरस्तू का काव्य-शास्त्र : डा० नगेन्द्र, पृ० ८७।

४. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा : डा० नगेन्द्र, पृ० ४२।

ग्रन्थ "On the sublime" में उदात्त तत्त्व का विवेचन किया। उन्होंने उदात्त या औदात्य को ही काव्य के आत्म-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए लिखा—'सच्चे औदात्य से हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है, मानो जो कुछ हमने सुना है वह स्वयं अपनी ही कृति हो।'<sup>५</sup> अस्तु, उनके विचार से काव्यजन्य आनन्द का मूल कारण काव्यगत औदात्य ही है। जिसके उन्होंने पाँच उद्गम-स्रोत बताये हैं— (१) विचारों की महानता, (२) भावों का उद्दाम एवं शक्तिशाली प्रतिपादन, (३) अलंकारों की समुचित योजना, (४) उत्कृष्ट अभिव्यक्ति और (५) गरिमामय रचना-विधान। इन सभी स्रोतों के पीछे वस्तुतः लेखक या कवि के व्यक्तित्व की महानता निहित होती है, क्योंकि उनके विचार से महान आत्माओं की वाणी से ही औदात्य की संकृति होती है। इस दृष्टि से लॉजाइनस की सबसे बड़ी देन यह मानी जाती है कि उन्होंने साहित्य के प्रति व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, इसी लिए उन्हें प्रथम स्वच्छन्दतावादी या व्यक्तिवादी आलोचक होने का गौरव प्राप्त है। वैसे उनके सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है कि औदात्य काव्य का अतिरिक्त गुण है—जिसका वास्तविक क्षेत्र धर्म, दर्शन एवं नीतिशास्त्र है—अतः इसे काव्य के आधारभूत तत्त्व के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती।

इस काल के रोमी आचार्यों में होरेस का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने काव्य के विभिन्न तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए औचित्य पर विशेष बल दिया है। उनके शब्दों में—“यदि वक्ता के शब्द परिस्थिति के अनुकूल नहीं तो सम्पूर्ण रोमवासी उच्चवर्ग के हों या निम्न वर्ग के—उस पर जो खोलकर हँसगे।”<sup>६</sup> वस्तुतः उनका औचित्य तत्त्व स्वाभाविकता संगति, सामंजस्य आदि गुणों को ही समन्वित रूप में प्रस्तुत करता है। आगे चलकर सिसरो, क्विण्टिलियन, डिमैट्रियस प्रभृति आचार्यों ने शैली पक्ष पर अधिक बल देते हुए अलंकार एवं गुण-दोषों की विवेचना विस्तार से की है। अलंकारों के सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से समस्त पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में क्विण्टिलियन एवं डिमैट्रियस का सर्वोच्च स्थान है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इनका अलंकार, रीति एवं गुण सम्बन्धी वर्गीकरण एवं विश्लेषण भारतीय अलंकारवादियों एवं रीतिवादियों से गहरा मिलता-जुलता है।

अस्तु, इस काल में पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का सर्वांगीण विकास परिलक्षित होता है। प्लेटो से डिमैट्रियस तक विभिन्न आचार्यों ने काव्य की सर्जन-प्रक्रिया, उसकी आस्वादन-प्रक्रिया, उसके भाव-पक्ष, विचार-पक्ष, शैली पक्ष आदि विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करते हुए अनेक नये सिद्धान्त प्रस्तुत किये, जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं।

५. काव्य में उदात्त तत्त्व : डा० नगेन्द्र, पृ० ५२।

६. काव्य-कला, डा० नगेन्द्र, पृ० ६।

(२) मध्य काल—यह काल बौद्धिक चिन्तन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, यहाँ तक कि इसे इतिहासकार 'अंधकार का युग' की संज्ञा देते हैं। डा० केसरीनारायण शुक्ल ने इस युग की परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए लिखा है—'ईसा की प्रथम दो शताब्दियों के बाद व्यापक अराजकता का समय आया। इस बीच रोमन साम्राज्य पूर्वी और पच्छिमी दो टुकड़ों में टूट गया।.....' इस उथल-पुथल के फलस्वरूप रोम का महत्त्व लुप्त होगया और पश्चिमी योरूप पर पाँचवीं शताब्दी के बाद अंधकार का अभेद्य पर्दा पड़ गया, जिसके साथ राजनीतिक अस्त-व्यस्तता और मानसिक पक्षपात का आगमन हुआ। इस समय के बाद विद्या का ह्रास हो गया, प्राचीन ग्रन्थ लुप्त होगए और रोमन शैक्षिक विधान का, जिसने कि पश्चिम में प्राचीन अध्ययन के क्रम को बनाए रखा था, सहसा अन्त हो गया। ज्ञानार्जन की पूर्व परंपराएँ नष्ट हो गई और बौद्धिक कार्य-कलाप से लोगों के मन विरत हो गए।'<sup>७</sup>

इस युग के साहित्य-चिन्तकों में मुख्यतः इटैलियन साहित्यकार दान्ते का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने एक ओर अपने 'डिवाइन कामेडी' में अन्योक्ति पद्धति की सम्यक् रूप में प्रतिष्ठा की तो दूसरी ओर उन्होंने काव्य के विभिन्न पक्षों पर नये विचार प्रस्तुत किये। उन्होंने परम्परागत मृत भाषा की अपेक्षा जीवित जन-भाषा को साहित्य के लिए अधिक उपयुक्त समझा। अतः उन्होंने जन-भाषा का समर्थन जोरदार शब्दों में किया। इसी प्रकार काव्य-विषय के सम्बन्ध में भी निर्णय देते हुए उन्होंने तीन विषयों को—युद्ध, प्रेम और नैतिक सौन्दर्य को—उत्तम घोषित किया। काव्य-शैली का भी उन्होंने निजी दृष्टिकोण से विश्लेषण करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये। अस्तु, इसमें कोई संदेह नहीं कि दान्ते ने काव्य-शास्त्र के कई पक्षों पर नये विचार प्रस्तुत किये जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं।

(३) आधुनिक युग—पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में आधुनिक युग का सूत्रपात करने का श्रेय सर फिलिप सिडनी (१६वीं शती) को है, जिन्होंने अपने निबन्ध 'The Defence of Poesie' (कविता की वकालत) में सुधारवादियों के इस आक्षेप का निराकरण किया कि कविता अनाचार एवं अनैतिकता का प्रचार करती है। उन्होंने प्लेटो के मत को भी संशोधित रूप में प्रस्तुत करते हुए सिद्ध किया कि प्लेटो का आक्षेप केवल अनैतिक साहित्य के सम्बन्ध में है, सारे साहित्य के सम्बन्ध में नहीं। इतना ही नहीं, उन्होंने नीतिवादी दृष्टिकोण से काव्य को उपयोगी सिद्ध करते हुए इसके पक्ष में कई तर्क दिये, जैसे, कविता मनुष्य को सम्य और सुसंस्कृत बनाती है, वह नैतिकता की शिक्षा प्रभावशाली ढंग से दे सकती है तथा वह एक आदर्श एवं श्रेष्ठ जगत् की कल्पना प्रस्तुत करती है। इस प्रकार सिडनी ने अपने लेख के द्वारा काव्य सम्बन्धी परम्परागत दृष्टिकोण को बदलने का स्तुत्य प्रयास किया।

सत्रहवीं शती के आलोचकों में जान ड्राइडन का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में अनेक नई स्थापनाएँ प्रस्तुत कीं, जिनमें से कुछ ये हैं—(१) कवि का कार्य जीवन को स्वाभाविक रूप में चित्रित करना है। (२) कविता का मुख्य लक्ष्य आनन्द देना है, शिक्षा देना गौण है। (३) कवि बिम्बों के माध्यम से भावनाओं का चित्रण करता है। (४) कवि कल्पना-शक्ति के आधार पर काव्य-रचना करता है। (५) अरस्तू के संकलन-त्रय का निर्वाह आवश्यक नहीं है। ड्राइडन ने इन नई मान्यताओं के द्वारा अनेक परंपरागत धारणाओं पर तीखा प्रहार किया। विशेषतः कवि-कल्पना सम्बन्धी मत से अरस्तू का अनुकृति सिद्धान्त निराधार सिद्ध हो जाता है।

अठारहवीं शती के साहित्य-चिन्तकों में पोप, जान्सन, लेसिंग, शिलर और गेटे का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पोप ने परम्परागत तत्त्वों को अपनाते हुए भी नये दृष्टिकोण का परिचय दिया। उन्होंने कविता में स्वाभाविकता एवं भावात्मकता को प्रमुखता देते हुए लिखा—“प्रकृति की भाँति कविता में भी जो हमारे मन को प्रभावित करती है उसके पृथक-पृथक अंग-प्रत्यंगों की सुडौलता नहीं होती, हम एक आँख अथवा अधर को सौन्दर्य की संज्ञा नहीं देते—सौन्दर्य उन सबकी सम्मिलित शक्ति एवं निष्पन्न परिणाम की संज्ञा है।”<sup>८</sup> काव्यानन्द का स्रोत भावात्मकता को मानते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया—“परन्तु ऐसी कविताओं पर जिनमें न ज्वार आता है, न भाटा ; जो शुद्ध होते हुए भी भाव-विहीन होती है ; जो एक ही रीति से मंद-मंद प्रवाहित होती है ; जो दोषों में बचती हुई एक ही बँधी-बँधाई गति अपनाये रहती है—हम दोष भले न लगाये परन्तु (उनसे उबकर) सो तो सकते हैं।”<sup>९</sup> पोप ने स्वाभाविकता एवं सहजता का अनुमोदन करते हुए भी काव्याभ्यास का समर्थन किया क्योंकि उनके विचार से ‘लेखन में सच्ची सहजता कला (अभ्यास) से आती है, संयोग से नहीं—जैसे, जिन्होंने नृत्य-कला सीखी हो उनकी गति में सबसे अधिक सहजता होती है।”<sup>१०</sup> इस प्रकार साहित्य की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में उन्होंने समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया।

डा० जानसन अपने युग के सबसे अधिक प्रभावशाली आलोचक माने जाते हैं। उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों को नये रूप में प्रस्तुत करते हुए उनका दृढ़तापूर्वक समर्थन किया। उनकी महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि साहित्य में जब सामान्य मानव-स्वभाव का उद्घाटन होता है तो दर्शक या पाठक उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करता है।<sup>११</sup> साथ ही उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि काव्य न केवल आनन्द प्रदान करता है वह हमें शिक्षा भी देता है। प्राचीन और नवीन के बीच उन्होंने भी

पोप की भाँति समन्वय का मार्ग अपनाते हुए अपना मत व्यक्त किया है—‘लेखक का प्रथम प्रयास प्रकृति और परंपरा में भेद करना होना चाहिए—अर्थात् जिसकी प्रतिष्ठा उपयुक्त होने के नाते हुई है और जो प्रतिष्ठित हो जाने के कारण ही उपयुक्त है : इन दोनों का भेद उसे हृदयंगम कर लेना चाहिए जिससे वह नवीनता लाने की लालसा में अनिवार्य सिद्धान्तों का अतिक्रमण न करे और न ऐसे नियमों को—जिनके प्रवर्तन का अधिकार किसी साहित्यिक तानाशाह को न था—तोड़ने के अनावश्यक डर के मारे अपनी दृष्टि की परिधि में आये हुए सौन्दर्य का समावेश करने से विमुख हो ।’<sup>१२</sup> अपनी इसी नीति के कारण उन्होंने त्रासदी और कामदी आदि के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक रूढ़ियों का वहिष्कार निर्ममतापूर्वक किया ।

लेसिंग, गेटे, शिलर आदि जर्मन आलोचक मूलतः साहित्य-सर्जक थे, किन्तु उन्होंने साहित्य की समस्याओं पर भी गौण रूप से विचार किया है । लेसिंग ने कला की प्रेषणीयता पर सर्वाधिक बल देते हुए इस पक्ष का विश्लेषण प्रस्तुत किया । गेटे ने काव्य के विभिन्न रूप-भेदों और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण करते हुए क्लासिक काव्य को स्वस्थ, प्राणवान एवं आनन्ददायी तथा रोमांटिक काव्य को रुग्ण, दुर्बल एवं विकृत सिद्ध किया । कविता की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में भी उन्होंने मौलिक सामग्री की अपेक्षा परम्परागत वस्तु को ही अपनाने का उपदेश देते हुए नये कवियों को बताया कि उन्हें अपने आत्म-तत्त्व के अनुकूल ही विषय-वस्तु का चयन करना चाहिए । उनके शब्दों में—“उपलब्ध सामग्री के आधार पर सारा कार्य सहज ही और अच्छे ढंग से निष्पन्न हो जाता है । तथ्य और चरित्र उपलब्ध हों तो कवि को केवल उनमें प्राण-संचार करना होता है । ..... वस्तुतः मैं तो उन्हीं विषयों के चयन का परामर्श दूँगा जिन पर पहले कार्य हो चुका हो । ..... हमारे अधिकांश युवा लेखकों में इसके सिवाय कोई दोष नहीं कि उनका आत्म तत्त्व महत्वपूर्ण नहीं होता ।” उन्होंने अरस्तू के काव्य-शास्त्र में नया परिशिष्ट जोड़कर अरस्तू के अनेक संदिग्ध मतों की व्याख्या करने का भी प्रयास किया था ।

शिलर मूलतः नाटककार था । उन्होंने अपने प्रसिद्ध लेख ‘सरल तथा भाव प्रवण कविता’ में सौन्दर्य-सिद्धान्तों के आधार पर काव्य-कला की व्याख्या तथा उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के वर्गीकरण का महत्वपूर्ण प्रयास किया । उन्होंने अपने युग की प्राचीन यूनानी युग से तुलना करते हुए भावानुभूति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में लिखा है—‘प्राचीन यूनानियों की बात सर्वथा भिन्न थी । उनके समय में सम्यता का ह्रास नहीं हुआ था, न वह अतिवादिता की ऐसी सीमा तक पहुँची थी कि प्रकृति से सम्बन्ध-विच्छेद आवश्यक हो जाता । उनके सामाजिक जीवन का संपूर्ण ढाँचा किसी कृत्रिम

अवधारण में विश्रान्ति न पाकर भावनाओं में या कला-कृति में विश्रान्ति पाता था—अतः यदि वे मनुष्य से बाहर प्रकृति को देखते थे तो उनके लिए आश्चर्यान्वित होने का कोई कारण न होता था और न उन्हें किन्हीं ऐसे माध्यमों की आवश्यकता का अनुभव होता था जिनके द्वारा वे प्रकृति का पुनः अन्वेषण कर सके। .....लेकिन हम अपने आप में सामंजस्य नहीं रख पाते—हमने मानवता के जो भी अनुभव किये हैं उनसे हम असंतुष्ट हैं। अतः हम उससे दूर भागने के सिवा कोई रुचि उसके प्रति नहीं रख पाते—हमने मानवता के जो भी अनुभव किये हैं उनसे हम असंतुष्ट हैं। अतः हम उससे दूर भागने के सिवा कोई रुचि उसके प्रति नहीं दिखाते, हम तो उस अपरूप आकार को अपनी दृष्टि से दूर ही रखना चाहते हैं।<sup>१४</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि इन जर्मन साहित्यकारों ने साहित्य की व्यावहारिक समस्याओं को युग-परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में रखकर विचार किया, जो दृष्टि की वैज्ञानिकता को सूचित करता है।

उन्नीसवीं शती में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का प्रवर्त्तन एवं विस्तार हुआ, जिसके अग्रगामी नेताओं में बर्ड्सवर्थ, कालरिज और शैले का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने साहित्य के क्षेत्र में रूढ़िवादिता, शास्त्रवादिता, नियमबद्धता विचारात्मकता एवं पूर्वाभ्यास की पद्धति का विरोध करते हुए नवीनता, स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं सहजता की प्रतिष्ठा की। बर्ड्सवर्थ ने लोक भाषा को ही काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार किये जाने का समर्थन करते हुए दोनों के अन्तर को अस्वाभाविक एवं घातक सिद्ध किया। उन्होंने काव्य को अभ्यास एवं कौशल द्वारा रचित न मानकर शान्त क्षणों के सहज भावोद्भेद के रूप में रचित स्वीकार किया। कवि के लिए शिक्षा, नैतिकता एवं उपदेश देने के बंधन को उन्होंने अनुचित बताते हुए आनन्द को ही काव्य का मूल लक्ष्य स्वीकार किया। इसी प्रकार कॉलरिज ने कविता का विरोध गद्य से न मान कर विज्ञान से माना। काव्य मौलिक रचना नहीं अपितु अनुकृति है—इस स्थापना पर कुठाराघात करते हुए उन्होंने कल्पना सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जिससे प्रमाणित हो जाता है कि कल्पनाजन्य कृति होने के कारण काव्य को नूतन सृष्टि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। शैले ने भी बर्ड्सवर्थ एवं कालरिज के सिद्धान्तों का समर्थन पूरी शक्ति से किया। अस्तु, परंपरागत मान्यताओं में परिवर्तन एवं संशोधन करने की दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी काव्य-चिन्तकों का बहुत अधिक महत्त्व है।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में कुछ ऐसे विचारकों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अति स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को नियंत्रित करते हुए स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता एवं

आनन्दवादिता के स्थान पर पुनः मर्यादा, सामाजिकता एवं उपयोगिता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया—इनमें मैथ्यू आर्नल्ड, रस्किन, तॉल्सताय आदि प्रमुख थे। आर्नल्ड ने साहित्य को जीवन की आलोचना के रूप में स्वीकार करते हुए नैतिक मूल्यों एवं मानव-हित को काव्य के लिए श्रेयस्कर सिद्ध किया। उन्होंने काव्य की विषय-वस्तु के रूप में भी उदात्त कार्यों एवं चिरन्तन भावनाओं को अपनाये जाने का समर्थन करते हुए लिखा—“समस्त राष्ट्रों में सदा-सर्वदा काव्य के शाश्वत विषय क्या रहे हैं ?—कार्य-व्यापार, मानव के कार्य-व्यापार। उनमें एक निहित रोचकता होती है.....। यदि कवि समझता है कि सब-कुछ उसी की शक्ति में है कि वह अपनी प्रतिपादन-कला से किसी मूलतः निकृष्ट-कार्य व्यापार को उत्कृष्ट कार्य-व्यापार के समान आनन्दायक बना सकता है तो उसका यह विचार मिथ्या है।.....अतः सर्वे प्रथम तो कवि को उत्कृष्ट कार्य-व्यापार का चयन कर लेना चाहिए और सबसे उत्कृष्ट कार्य-व्यापार कौन से होते हैं ? निश्चय ही वे जो मानव के सहज संस्कारों को सबसे अधिक आन्दोलित करें—उन मूलवर्ती भावनाओं को (आन्दोलित करें) जिनका जातीय मानस में स्थायीवास होता है और जो काल-निरपेक्ष होती हैं। ये भावनाएँ स्थायी और परिवर्तनशील होती हैं और इनके अनु-रंजन के साधन भी स्थायी और अपरिवर्तनशील होते हैं।”<sup>१५</sup> आर्नल्ड की ही भाँति रस्किन और तॉल्सताय ने भी कला और साहित्य को जीवन के उच्चादर्शों से सम्बन्धित किया। जहाँ रस्किन ने कला को आध्यात्मिक एवं नैतिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति के एक पवित्र माध्यम का रूप दिया, वहाँ तॉल्सताय ने उसे हमारी उदात्त भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति से युक्त सिद्ध किया। अस्तु, इन आचार्यों ने काव्य की लोक-हितवादी दृष्टिकोण से सुन्दर व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं।

बीसवीं शताब्दी का काव्य-शास्त्र विभिन्न वादों एवं बहुमुखी प्रवृत्तियों से ग्रसित रहा है। इनमें मुख्यतः कलावाद, अभिव्यञ्जनावेद, प्रतीकवाद, बिम्बवाद, मनोविश्लेषणात्मक विचार-धारा, समाजवादी या प्रगतिवादी विचार-धारा आदि उल्लेखनीय हैं। इन वादों एवं प्रवृत्तियों के उन्नायकों ने एकांगी दृष्टिकोण से साहित्य की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं जो परस्पर-विरोधी हैं। उनसे साहित्य का स्वरूप स्पष्ट कम हुआ है, उसके सम्बन्ध मिथ्या धारणाओं एवं भ्रान्तियों का प्रचार अधिक हुआ है। इन नाना मत-मतान्तरों के कारण आज समीक्षा के क्षेत्र में अराजकता की सी स्थिति उत्पन्न हो गई है—जिस तत्त्व को एक गुण मानता है उसी को दूसरा दोष मानता है ! ऐसी परिस्थिति में आई० ए० रिचर्ड्स, हरबर्ट रीड, एफ० एल० ल्युकस जैसे विद्वानों ने साहित्य-शास्त्र को विज्ञान एवं मनोविज्ञान के आधार पर व्यवस्थित रूप देने का

प्रयास किया है, किन्तु इस क्षेत्र में अभी बहुत कार्य बाकी है। श्री हरबर्ट डिंगले तथा उनके अन्य कई साथियों ने साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का आन्दोलन चलाया है जो वर्तमान परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल है। वस्तुतः आज साहित्य-शास्त्र को देश-काल की संकीर्ण सीमाओं से मुक्त करके व्यापक वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही साहित्य-मूल्यों की पुनर्स्थापना एवं साहित्यिक एवं असाहित्यिक तत्त्वों का निर्णय सम्यक् रूप में किया जा सकेगा। प्रस्तुत अध्ययन भी इसी दिशा में किया गया एक प्रारम्भिक प्रयास है।



## सौन्दर्य-शास्त्र : संक्षिप्त परिचय

‘सौन्दर्य-शास्त्र’ आंग्ल भाषा के ‘एस्थेटिक्स’ (Aesthetics) के पर्यायवाची के रूप में प्रचलित है तथा स्वयं ‘एस्थेटिक्स’ का भी मूलधार एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ होता है—‘एन्द्रिय बोध सम्बन्धी या संवेदना सम्बन्धी’। इस दृष्टि से ‘सौन्दर्य-शास्त्र’ शब्द ‘एस्थेटिक्स’ का शुद्ध पर्याय नहीं है क्योंकि संवेदनाओं का क्षेत्र सौन्दर्यनुभूति के क्षेत्र से बहुत अधिक व्यापक होता है तथा बहुत सी संवेदनाएँ सौन्दर्यानुभूति के सर्वथा प्रतिकूल भी होती हैं। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि ‘एस्थेटिक्स’ के पर्यायवाची के रूप में इस शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता है तथा ऐसा करना कहाँ तक उचित है ?

यदि हम ‘एस्थेटिक्स’ का इतिहास देखें तो पता चलेगा कि अठारहवीं शताब्दी से पूर्व इस नाम के किसी शास्त्र-विशेष का अस्तित्व कहीं भी नहीं था। इस नाम से एक नये एवं स्वतंत्र शास्त्र की स्थापना करने का श्रेय जर्मन विद्वान् बामगार्टन (१७१४-१७६२ ई०) को है। उनसे पूर्व सौन्दर्य की विवेचना दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत ही होती थी, किन्तु दर्शन के क्षेत्र में सत्य को सौन्दर्य से अधिक महत्त्व दिया जाता था। बामगार्टन से पूर्व प्रसिद्ध दर्शनवेत्ता स्पिनोजा ने ज्ञान के दो भेद करते हुए, एक को तर्क-सम्मत ज्ञान एवं दूसरे को ऐन्द्रिय ज्ञान कहा। इनमें से प्रथम का सम्बन्ध सत्य से है जबकि दूसरे का सौन्दर्य से। स्पिनोजा तथा उसके अनुयायियों ने ज्ञान के इस दूसरे भेद—सौन्दर्य को ‘अस्पष्ट’, ‘अनिश्चित’; ‘धुँधला आदि बताते हुए इसका तिरस्कार किया जो कि बामगार्टन जैसे सौन्दर्यपासकों को सह्य नहीं था। अतः सौन्दर्य को उचित महत्त्व प्रदान करने के लक्ष्य से ही एक स्वतंत्र विषय की स्थापना का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। यह प्रस्ताव उस युग के सौन्दर्य-चिन्तकों के लिए इतना अधिक मनोनुकूल था कि उन्होंने इस नाम के औचित्य पर अधिक विचार किये बिना ही तुरन्त स्वीकार कर लिया—और इस प्रकार एक नये विषय की स्थापना होगई।

बामगार्टन के मतानुसार ऐस्थेटिक्स 'ऐन्द्रिय बोध का विज्ञान' है जिसमें संवेदनाओं का विश्लेषण होता है।<sup>१</sup> उसका सम्बन्ध 'अस्पष्ट ज्ञान' से है—'अस्पष्ट ज्ञान, वह ज्ञान है जो संवेदनाओं के रूप में प्राप्त होता है, जिसे शब्दों में ठीक-ठीक प्रस्तुत करना संभव नहीं।'<sup>२</sup> यद्यपि यह परिभाषा नामकरण के अनुरूप ही है किन्तु वास्तव में 'ऐस्थेटिक्स' के अन्तर्गत सौन्दर्य सम्बन्धी संवेदनाओं का ही विवेचन एवं विश्लेषण अधिक किया जाता है—शेष प्रकार की अनुभूतियों एवं संवेदनाओं को प्रायः उसके क्षेत्र से बाहर रखा जाता है। इसी तथ्य को देखते हुए आगे चलकर हीगल ने स्पष्ट किया कि "ऐस्थेटिक्स केवल ललित कलाओं का दर्शन मात्र है। ललित कलाओं का भी सामान्य गुण सौन्दर्य माना जाता है तथा इस शास्त्र की विवेचना करने वाले विद्वान् प्रायः सौन्दर्य-मीमांसा को ही अपना लक्ष्य मानकर चलते रहे हैं।"<sup>३</sup> इससे भी यह समझा जाने लगा कि इस शास्त्र का मुख्य विषय सौन्दर्य ही है। ऐस्थेटिक्स के इसी विकसित अर्थ को ध्यान में रखते हुए प्रसिद्ध सौन्दर्य-शास्त्री श्री बोसांके महोदय ने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया था—'ऐस्थेटिक्स का तात्पर्य है सौन्दर्य-दर्शन।'<sup>४</sup> अस्तु, अब सामान्यतः बोसांके के मत को ही मान्यता दी जाती है। उदाहरण के लिए हम यहाँ एक नवीनतम मत उद्धृत कर सकते हैं, जिसके अनुसार "ऐस्थेटिक्स ज्ञान की वह शाखा है जिसका मुख्य कार्य यह खोजना है कि सौन्दर्य का वास्तविक अर्थ क्या होता है। इसका सम्बन्ध सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं के तर्क-बद्ध विवेचन, कलाओं के विशिष्ट तत्त्वों के विश्लेषण एवं सौन्दर्य सम्बन्धी समस्त निष्कर्षों के लिए उपर्युक्त सिद्धान्तों के निर्धारण से है।"<sup>५</sup> इससे स्पष्ट है कि 'ऐस्थेटिक्स' शब्द का मूल अर्थ यद्यपि भिन्न है, किन्तु प्रचलित अर्थ में उसे 'सौन्दर्य-शास्त्र' का ही पर्यायवाची मानना उचित है।

(२) सौन्दर्य-शास्त्र का क्षेत्र—'सौन्दर्य-शास्त्र' नाम से यह धारणा उत्पन्न होती है कि इसके क्षेत्र में सभी प्रकार का सौन्दर्य आता होगा किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। निःसन्देह सौन्दर्य-शास्त्र प्रकृति और शिल्प के विभिन्न उपादानों में सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार करता है किन्तु वह अपना सम्बन्ध केवल ललित कलाओं तक ही सीमित रखता है। सौन्दर्य-शास्त्रियों ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप में स्वीकार

1. History of Aesthetic : Bosanquet, Page 183-
2. Western Aesthetics : K. C. Pandey, Page 287.
3. The same, Page 2.
4. History of Aesthetic : Bosanquet, Page 3.
5. "Aesthetic is that branch of Knowledge whose function is to investigate what to be asserted when we write or talk correctly about beauty. It is concerned logically to elucidate the notion of beauty as the distinguishing feature of works of art and to propound the valid principles which underlie all aesthetic judgments."—Harold Osborne : Aesthetics & Criticism, Page 24.

करते हुए इसके पक्ष में अनेक तर्क दिये हैं। एक तो उनका कहना है कि प्रकृति के विभिन्न रूपों और क्रिया-कलापों का अध्ययन करना सौन्दर्य-शास्त्र का नहीं—भौतिक-विज्ञान का कार्य है। दूसरे, सौन्दर्य-शास्त्र की परिधि में केवल वे ही रूप आ सकते हैं जो मानव के द्वारा अनुभूत होकर लिपिबद्ध रूप में सुलभ हो गये हों। दूसरे शब्दों, में सौन्दर्य-शास्त्र प्रकृति एवं बाह्य जगत् का अध्ययन सीधे रूप में और उनके प्रकृत रूप में न करके कलाओं के माध्यम से उनके संवेदित रूप का ही अध्ययन करता है। सौन्दर्य-शास्त्र के आधार-भूत ग्रन्थों को देखने से भी यह स्पष्ट है कि उनमें सौन्दर्य के नाम पर विभिन्न कलाओं की ही—या कलागत सौन्दर्य की ही मीमांसा हुई। यदि उनमें प्रकृति के सौन्दर्य की कहीं चर्चा हुई भी है तो वह कलागत सौन्दर्य के प्रसंग में—उसी की मीमांसा के साधन-रूप में हुई है। अतः इस दृष्टि से सौन्दर्य-शास्त्र—केवल कला-शास्त्र ही है, और कलाओं में भी केवल ललित कलाओं से ही उसका सम्बन्ध है। इतना ही नहीं, ललित कलाओं के भी केवल एक ही पक्ष—सैद्धान्तिक या दार्शनिक पक्ष तक ही उसका सम्बन्ध माना जाता रहा है। कलाओं के व्यावहारिक पक्ष—उनकी रचना के विधि-विधानों एवं तत्सम्बन्धी अन्य विशिष्ट नियमों—से सौन्दर्य-शास्त्र को सर्वथा असंपृक्त बताया जाता रहा है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए बोसाँके महोदय ने लिखा था—‘सौन्दर्य-शास्त्र दर्शन की एक शाखा है, उसकी सत्ता ज्ञान के निमित्त है, उससे व्यावहारिक पथ-प्रदर्शन की आशा नहीं रखनी चाहिए।’ अस्तु, सही अर्थ में सौन्दर्य-शास्त्र को, ‘सौन्दर्य-शास्त्र’ भी नहीं, ‘कला-शास्त्र’ भी नहीं, अपितु ‘कला-दर्शन’ कहना चाहिए।

बीसवीं शती तक आते-जाते ‘सौन्दर्य-शास्त्र’ के भाग्य ने पुनः पलटा खाया। जब तक यह शास्त्र दार्शनिकों के आश्रय में था ‘दर्शन’ बना रहा किन्तु अब वैज्ञानिकों की कृपा-दृष्टि से पुनः इसका रूप-परिवर्तन होने लग गया है। दार्शनिक लोग कलाओं के सामान्य तत्त्वों पर विचार करते थे, जबकि इस शती के विद्वान् वैज्ञानिक दृष्टि से विभिन्न कलाओं के विभिन्न पक्षों का स्वतन्त्र रूप से विश्लेषण करने में संलग्न हैं। समन्वयात्मकता से विश्लेषणात्मकता की ओर अग्रसर होने के कारण पुनः उसका रूप शास्त्रीय एवं व्यावहारिक होता जा रहा है, अब वह केवल ज्ञान-पिपासा की शान्ति का ही साधन-मात्र नहीं, कलाओं की सृष्टि, व्याख्या, आलोचना एवं अनुभूति की प्रक्रियाओं का भी सहयोगी बन गया है। दूसरी ओर, अब सौन्दर्य का अर्थ सौन्दर्य न रहकर—‘मूल्य’ हो गया है, अतः नये दृष्टिकोण से इसे ‘मूल्यों की मीमांसा करने वाला विज्ञान’ भी समझा जाने लगा है। अस्तु, अब तक की प्रगति के आधार पर इसे ‘सौन्दर्य-दर्शन’ ‘सौन्दर्य-शास्त्र’ एवं ‘सौन्दर्य-विज्ञान’—तीनों की संज्ञा दी जा सकती है।

(३) सौन्दर्य-शास्त्र का विकास-क्रम—यद्यपि ‘सौन्दर्य-शास्त्र’ की स्थापना अठारहवीं शती में ही हुई है किन्तु इसके अन्तर्गत उन सब पूर्ववर्ती दार्शनिकों, साहित्या-

चार्यों एवं कला-मीमांसकों को भी स्थान दिया जाता है जिन्होंने किसी न किसी रूप में कलागत सौन्दर्य की समस्या पर विचार किया है। यही कारण है कि सौन्दर्य-शास्त्र का इतिहास यूनानी चिन्तन के आरम्भ से—सुकरात और प्लेटो के भी पूर्व युग से प्रारम्भ होता है। किसी नये विषय को भी परंपरागत चिन्तन से सम्बद्ध करके उसे किस प्रकार व्यापक बनाया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण सौन्दर्य-शास्त्र का इतिहास है। सौन्दर्य-शास्त्र के लगभग पच्चीस सौ वर्षों के इतिहास में सहस्राधिक विद्वानों के विभिन्न मतव्यों का विवेचन उपलब्ध होता है। इन सबका परिचय यहाँ दिया जाना संभव नहीं है, अतः हम यहाँ सौन्दर्य-शास्त्र के कुछ प्रमुखवादों की ही संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं।

(४) सौन्दर्य-शास्त्र के प्रमुखवाद —सौन्दर्य-शास्त्र की मूल समस्या सौन्दर्य के स्वरूप की व्याख्या करना रही है। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं जिन्हें हम मुख्यतः इन सात वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) अध्यात्मवादी दृष्टिकोण (२) उपयोगितावादी दृष्टिकोण (३) बुद्धिवादी दृष्टिकोण (४) भाववादी दृष्टिकोण (५) रूपवादी दृष्टिकोण (६) साहचर्यवादी दृष्टिकोण (७) मूल्यवादी दृष्टिकोण। यहाँ इनका क्रमशः परिचय दिया जाता है।<sup>६</sup>

### (क) अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

सौन्दर्य की अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से व्याख्या करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में से प्लेटो, प्लाटिनस, हीगल आदि का नाम उल्लेखनीय है। प्लेटो ने विश्व के समस्त सौन्दर्य की मूलतः ईश्वर का रूप बताते हुए सौन्दर्यानुभूति को एक दिव्य अध्यात्म-साधना के समकक्ष महत्त्व प्रदान किया। उनके विचार से विभिन्न शास्त्रों के गंभीर अध्ययन एवं मनन से विकसित एक विशेष प्रकार की मानसिक शक्ति से ही हम सौन्दर्य का बोध कर सकते हैं। यद्यपि सौन्दर्य-बोध की यह अपूर्व क्षमता तर्क-बद्ध अध्ययन से ही उदित होती है फिर भी वह तर्क से शून्य होती है—सौन्दर्य तर्क गम्य नहीं, अनुभूति गम्य है। अतः अन्य विषयों की तरह से सौन्दर्यानुभूति को

६. यह परिचय मुख्यतः इन ग्रन्थों के आधार पर दिया जा रहा है—

1. A history of Aesthetics : Bosanquet.
2. A history of Esthetics : Gilbert & Kuhn.
3. Western Aesthetics : K. C. Pandey.
4. The theory of Beauty : E. F. Carritt.
5. An Introduction to Aesthetics : E. F. Carritt.
6. An Introduction to Aesthetics : Hunter Mead.
7. The quest for Beauty : J. L. Jarrett.
8. The sense of Beauty : George Santayana.
9. The Principles of Art : R. G. Collingwood.

हम शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकते। सौन्दर्यानुभूति के अनन्तर द्रष्टा का हृदय इस प्रकार ज्योतिष हो उठता है कि उसे अखिल जगत् का सौन्दर्य किसी एक ही सौन्दर्य-पुंज से संबंधित दिखाई देने लगता है और विभिन्न सुन्दर वस्तुओं का स्थूल भेद उसके लिए नगण्य हो जाता है।" इस प्रकार प्लेटो ने सौन्दर्य के नाम पर सूक्ष्म-सौन्दर्य की मीमांसा की है, जिसका सम्बन्ध केवल रहस्यवादियों से ही है। सौन्दर्य-शास्त्र का विषय अलौकिक सौन्दर्य नहीं—लौकिक सौन्दर्य है, जिससे प्लेटो के विवेचन का बहुत कम सम्बन्ध है।

आगे चलकर प्लॉटिनस (२०४-२६६ ई०) ने प्लेटो की ही विचार-धारा को आगे बढ़ाते हुए ईश्वर को ही सौन्दर्य का मूलधार घोषित किया। भौतिक पदार्थों में हमारी आत्मा जिस सौन्दर्य का अन्वेषण करती है वह वस्तुतः उसके पूर्व संस्कारों का ही परिणाम है। लौकिक स्तर पर आकर हमारी आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है—या यों कहिए कि उस महान् सौन्दर्य-पुंज से वह दूर आ जाती है, फिर भी वह अपने उस पुरातन अनुभव को सर्वथा भूल नहीं पाती; उस ज्योतिष-स्वरूप के पुनः साक्षात्कार के लिये ही वह इस जीवन में भटकती रहती है। इस प्रकार ईश्वर के रूप की प्यास ही सौन्दर्य की प्यास है या सौन्दर्य की प्यास ही ईश्वर से मिलने की प्यास है। इस प्रकार प्लाटिनस सौन्दर्य का सम्बन्ध ईश्वर से स्थापित करते हुए बहुत कुछ प्लेटो का ही अनुसरण करता है किन्तु वह कला-कृतियों की मीमांसा करते समय प्लेटो से भी एक कदम आगे बढ़ जाता है। प्लेटो ने जहाँ कलागत सौन्दर्य को हमारी वासनाओं का उभारने वाला मिथ्या सौन्दर्य बताकर उसका तिरस्कार किया था, वहाँ प्लाटिनस ने कलागत सौन्दर्य को, भी आध्यात्मिक सौन्दर्य से ही सम्बन्धित करने का प्रयास किया। कला में सौन्दर्य का आधार उसके स्थूल उपकरणों एवं भौतिक तत्त्वों में निहित नहीं है अपितु उस सूक्ष्म आत्मा में निहित है जिसे कलाकार प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में—मूर्ति या चित्र में कलाकार अपनी आत्मा को ढालता है और आत्मा का वही स्पर्श कला का सौन्दर्य है। मूर्ति को जो रूप कलाकार प्रदान करता है वही उसका सौन्दर्य है। दर्शकों या सामाजिकों के हृदय भी परस्पर आत्मिक एकता के सूत्र में गुँथे हुए हैं—अतः जब हम कला के रूप में कलाकार की आत्मा की छवि देखते हैं तो गद्-गद् हो उठते हैं। मृत व्यक्ति की अपेक्षा जीवित में अधिक सौन्दर्य होता है, उसका कारण भी यह आत्मिक सम्बन्ध ही है। अस्तु, प्लॉटिनस मृष्टि और कलाओं के समस्त सौन्दर्य को इसी आत्मिक सम्बन्ध पर आधारित मानते हुए उसे परम-तत्त्व का ही रूप सिद्ध कर देता है।

आधुनिक युग में सौन्दर्य की पुनः अध्यात्मपरक व्याख्याएँ प्रस्तुत करने वाले विचारकों में विल्हेम जोसेफ शिलिंग (१७७५-१८५४) एवं हीगल (१७७०-१८३१) का नाम उल्लेखनीय है। शिलिंग ने मृष्टि एवं कलाओं के सौन्दर्य को ईश्वर के रूप

से अभिन्न बताया। उसके विचार से स्वयं सृष्टि भी ईश्वर की एक कला है। कलाओं में भी शाश्वत नियमों एवं चिरन्तन सत्य का ही चित्रण होता है तथा सत्य भी ईश्वर का एक रूप है। इस प्रकार कलाओं का ईश्वर से गहरा सम्बन्ध होता है, इतना ही नहीं, ईश्वर ही कलाओं का प्रेरक एवं तात्कालिक कारण है।

जार्ज फ्रेडरिख विल्हेम हीगल (१७७०-१८३१) ने दर्शन की द्वन्द्वात्मक-पद्धति के आधार पर सौन्दर्य की मीमांसा की। उसके विचार से परम तत्त्व के बोध के तीन साधन हैं— कला, धर्म एवं दर्शन। कलाओं में हम ऐन्द्रिक माध्यम से ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करते हैं। उनके विचार से कला और सौन्दर्य में परस्पर अन्तर है— कला यदि ईश्वरानुभूति का माध्यम मात्र है जबकि सौन्दर्य स्वतः ही ईश्वर का रूप है। उसके शब्दों में “The sensuous object through which the absolute shines is beautiful. Beautiful object addresses itself to the senses as well as the mind.” जिस ऐन्द्रिक वस्तु के माध्यम से परमतत्त्व प्रकाशित होता है वही सुन्दर है। सुन्दर वस्तु स्वतः ही हमारी इन्द्रियों एवं मस्तिष्क को आकर्षित कर लेती है। किन्तु यहाँ यह ध्यान रहे, हीगल सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा केवल कला में ही मानता है। उसके विचार से प्रकृति भी सौन्दर्य की ओर अग्रसर है, जबकि उसकी उपलब्धि कला में ही होती है। अतः कहना चाहिए कि हीगल के अनुसार कलागत सौन्दर्य में ही परमतत्त्व की सत्ता होती है।

### (ख) उपयोगितावादी दृष्टिकोण

प्राचीन एवं आधुनिक युग के अनेक विचारकों ने सौन्दर्य की समाजपरक व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हुए उसे नैतिकता एवं उपयोगिता से सम्बद्ध करने का प्रयास किया। यूनानी दार्शनिक सुकरात के विचार से किसी वस्तु की उपयोगिता में ही उसका सौन्दर्य निहित है, इसीलिए उसने कहा था—“एक गोबर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर कही जा सकती है यदि उसका कोई उपयोग हो, अन्यथा उपयोग की दृष्टि से अपूर्ण होने पर एक चमचमाती हुई स्वर्ण-घटित ढाल भी असुन्दर मानी जावेगी।” आगे चलकर अठारहवीं, उन्नीसवीं शती में भी अनेक विचारकों ने भी सौन्दर्य को सामाजिक हित से सम्बद्ध किया। एडमंड बर्क (१७२६-१७९७) ने सौन्दर्य की परिभाषा करते हुए कहा “I call beauty a social quality” अर्थात् ‘मैं सौन्दर्य को एक सामाजिक गुण मानता हूँ। इतना ही नहीं, उसने सौन्दर्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उसे हमारी सामाजिक वृत्तियों पर आधारित सिद्ध किया।’ उसके विचार से हम सौन्दर्य का आस्वादन सहानुभूति, अनुकरण एवं आत्म-विस्तार की मनोवृत्तियों से करते हैं और ये तीनों ही प्रवृत्तियाँ सामाजिक वृत्ति (Social Instinct) पर आधारित हैं। जान रस्किन (१८१६-१९००) ने एक ओर तो कलागत सौन्दर्य को ईश्वर के दिव्यगुणों से सम्बन्धित माना, तो दूसरी ओर उसने यह भी

स्पष्ट किया कि ईश्वर के गुण नैतिक गुण हैं—अतः नैतिकता को ही सौन्दर्य की आधार-शिला माननी चाहिए ।

विक्टर कजन (१७९२-१८६७), जाफ़ाय १७९६-१८४२) लापराडे (१८१२-१८८३), कामते (१७८९-१८५७) आदि ने कलाओं को अकेले व्यक्ति की सृष्टि न मानकर समाज की उपज मानते हुए कलागत सौन्दर्य को सामाजिक दृष्टिकोण को देने के रूप में स्वीकार किया ।

काडवेल ने साम्यवादी दृष्टिकोण से सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए प्रतिपादित किया कि देश और काल-भेद के अनुसार सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं में भी परिवर्तन होता रहता है, अतः कहना चाहिए कि सौन्दर्य सामाजिक परिस्थितियों एवं दृष्टिकोण पर आधारित होता है । यही कारण है कि विभिन्न समाज की सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाएँ विभिन्न होती हैं ।

### (ग) बुद्धिवादी दृष्टिकोण

कुछ विद्वानों ने सौन्दर्य को बुद्धि, विचार या सत्य के प्रतिरूप के रूप में भी ग्रहण किया है । सेंट थामस (१२२७-१२७७) के विचार से “ऐन्द्रिक माध्यम से तर्क की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है ।” इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए लॉक (१६३२-१७०४) ने प्रतिपादित किया कि सौन्दर्य वह मिश्रित विचार है जो कि मिश्रित ढंग से प्रस्तुत किया जाता है । उसके दृष्टिकोण के अनुसार विचार दो प्रकार के होते हैं—सरल और मिश्रित । इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त विचार सरल विचार होते हैं जबकि प्राप्त एवं अप्राप्त सरल विचारों के पारस्परिक संयोग से उद्भूत विचार मिश्रित विचार होते हैं । इस प्रकार सभी मिश्रित विचार सरल विचारों से ही निर्मित होते हैं । इन मिश्रित विचारों की भी तीन श्रेणियाँ की गई हैं—(१) रूप (Modes) (२) वस्तु (Substance) (३) सम्बन्ध । रूप सूचक विचारों के भी दो उपभेद किये गये हैं—सरल रूप एवं मिश्रित रूप । यह ‘मिश्रित रूप’ ही सौन्दर्य है । इस प्रकार लॉक के विचार से सौन्दर्य एक मिश्रित विचार है जो कि मिश्रित रूप से उत्पन्न होता है—या यों कहिए कि वह विभिन्न प्रकार के काल्पनिक विचारों के मेल से उत्पन्न होता है । कलागत सौन्दर्य न तो किसी बाह्य वस्तु के सदृश होता है और न ही सर्वथा मौलिक सृष्टि ।

कांटे (१७२४-१८०४) ने बुद्धि के तीन रूप बताये—(१) शुद्ध बुद्धि (२) व्यावहारिक बुद्धि (३) निर्णयात्मक बुद्धि । शुद्ध बुद्धि से जहाँ सत् का ज्ञान होता है, वहाँ व्यावहारिक बुद्धि हमें औचित्य की ओर ले जाती है । शुद्ध बुद्धि ‘क्या है ?’ का उत्तर देती है तो व्यावहारिक बुद्धि ‘क्या होना चाहिए ?’ का । निर्णयात्मक बुद्धि इन दोनों से समन्वित होती है ; सौन्दर्य का सम्बन्ध इसी से है । इस प्रकार सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए कांट इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि “स्वच्छन्द कल्पना

द्वारा प्रस्तुत वह विचार जो और अधिक चिन्तन को प्रवाहित करता है—सौन्दर्य है।”

### (घ) भाववादी दृष्टिकोण

सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में भावपरक दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले विद्वानों की संख्या बहुत अधिक रही है—किन्तु इन्होंने प्रायः कलागत सौन्दर्य को ध्यान में रख कर ही अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इन भाव-परक व्याख्याओं को भी दृष्टिकोण-भेद के आधार पर चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) भावोद्दीप्तिवादी दृष्टिकोण (२) भावालम्बनवादी दृष्टिकोण (३) भावाभिव्यक्तिवादी दृष्टिकोण (४) भाव-प्रेषणवादी दृष्टिकोण। इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

(१) भावोद्दीप्तिवादी दृष्टिकोण—सत्रहवीं-अठारहवीं शती में डकार्टेज, एडिसन, ह्यूम—आदि विद्वानों ने भावोद्दीप्तिवादी दृष्टिकोण से सौन्दर्य की व्याख्या की। डेकार्टेज (१५९६-१६५०) ने कलागत सौन्दर्य का सम्बन्ध भाव से स्थापित करते हुए सौन्दर्यानुभूति को भाव समन्वित बौद्धिक आनन्द के रूप में स्वीकार किया। इसी प्रकार एडिसन (१६७२-१७१९) महोदय के विचार से भी कोई कृति जितनी गहराई से हमारे भावों को उत्तेजित करने में सफल होगी वह उतनी ही अधिक सुन्दर मानी जावेगी। ह्यूम (१७११-१७७६) ने कलागत सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए उसके तीन पक्षों की विवेचना की—(१) मानव-प्रकृति (२) संस्कार एवं प्रथाएँ (३) पानसिक परिवर्तन। अर्थात् किसी वस्तु के सौन्दर्य का निर्णय करने में हमारी मानवी-प्रकृति, हमारे संस्कारों तथा उसके प्रभाव से होने वाले मानसिक परिवर्तनों का गहरा योग रहता है। कला-कृतियों का निर्माण या संवटन इस प्रकार होता है कि जिससे वे हमें प्रसन्नता और संतोष प्रदान कर सकें। अस्तु, भावोद्दीप्तिवाद के अनुसार कला-सौन्दर्य का मूलाधार उसकी भावोद्दीप्ति की क्षमता में ही निहित है या यों कहिए कि कला के वे तत्त्व जो भावोद्दीपन में सहायक होते हैं—कलागत सौन्दर्य के घटक हैं।

(२) भावालम्बनवादी दृष्टिकोण—इस वाद के उन्नायकों—हक्सन, बर्क, लबस्सु, हरमन लात्ज, सैतायना आदि ने कलागत सौन्दर्य के लिए केवल भावोद्दीप्ति को ही आवश्यक नहीं माना अपितु स्वयं कला में भी भावों का चित्रण अपेक्षित माना। ध्यान रहे कई बार कुछ तथ्य या विचार भी पाठक के लिए भावोत्तेजक सिद्ध हो सकते हैं किन्तु इस वाद के मानने वाले कला में भावों का चित्रण अपेक्षित मानते हैं।

हक्सन (१६९४-१७४७) महोदय ने कलागत सौन्दर्य के आस्वादन के सम्बन्ध में दो नये महत्वपूर्ण तत्त्वों—निःस्वार्थ भावना और अन्तर्भावना—का भी उद्घाटन

किया। निःस्वार्थभावना से उनका तात्पर्य यह है कि हम सौन्दर्य का आस्वादन किसी व्यक्तिगत हानि-लाभ के विचार से मुक्त रह कर करते हैं। पाठक या सामाजिक जिस शक्ति के कारण कला के सौन्दर्य का आस्वादन करता है उसे ही इन्होंने अन्तर्भावना (Inner-sense) का नाम दिया है। यही शक्ति कवि, काव्य और पाठक—तीनों के प्रसंग में विभिन्न नामों से पुकारी जाती है। कवि की अन्तर्भावना को प्रतिभा, काव्य में प्रतिबिम्बित अन्तर्भावना को भावना एवं पाठक की अन्तर्भावना को रुचि कहा जाता है। बर्क (१७२६-१७६७) ने हक्सन के रुचि सम्बन्धी विवेचन को और आगे बढ़ाते हुए उसे इन्द्रियों, कल्पना और बुद्धि से समन्वित सिद्ध किया।

जर्मन विद्वान हरमन लात्ज (१८१७-१८८१) ने कलागत सौन्दर्य के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में बताया कि वास्तविक सौन्दर्य आत्मा को आनन्द प्रदान करने वाले भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आगे चलकर जार्ज सैतायना ने अपनी पुस्तक 'The Sense of beauty' में भी विस्तार से प्रतिपादित किया कि "सौन्दर्य एक भावात्मक तत्त्व है जिसका स्वरूप प्रसन्नतादायक है, किन्तु उसे हम वस्तुओं का गुण समझते हैं।" इस प्रकार इस वर्ग के विद्वानों ने कलागत सौन्दर्य का आधार भावों के चित्रण या प्रस्तुतीकरण को ही माना।

(३) भावाभिव्यक्तिवादी दृष्टिकोण—क्रोचे के अभिव्यक्तिवाद से प्रेरित होकर अनेक विचारकों ने भावाभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की, जिनमें कालिंग वुड, कैरिट प्रमुख रूप में उल्लेखनीय हैं। कालिंगवुड ने सर्व प्रथम भाव-सिद्धान्त के परम्परागत रूपों का खंडन करते हुए भावाभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की। आगे चलकर कैरिट महोदय ने भी कला का सौन्दर्य भावाभिव्यक्ति में ही सिद्ध किया।

(४) भाव-संप्रेषणवादी दृष्टिकोण—टाल्सटाय, एवं रिचर्ड्स ने कला के सौन्दर्य की सत्ता भावों के संप्रेषण में स्वीकार की। टाल्सटाय ने कलागत सौन्दर्य के सबसे बड़ी कसौटी की व्याख्या करते हुए कहा "यदि एक व्यक्ति सरलता पूर्वक अपने दृष्टिकोण को बिना परिवर्तित किए किसी रचना को देखकर या सुनकर या पढ़कर एक ऐसी मानसिक स्थिति का अनुभव करता है जिसमें कलाकार एवं अन्य सामाजिकों के साथ उसका तादात्म्य हो तो अवश्य ही वह रचना कला-कृति है, अन्यथा किसी रचना में भले ही कितना यथातथ्य वर्णन हो, कितनी ही वह प्रभावशाली हो और चाहे कितनी ही मनोरंजक हो, यदि वह उक्त आत्मिक एकता एवं आनन्द के भाव को जागृत नहीं करती तो वह कला नहीं कही जा सकती।" इस प्रकार टाल्सटाय ने भावात्मक तादात्म्य में ही कला के समस्त सौन्दर्य का आस्तित्व माना है। इसी भावात्मक तादात्म्य को आई० ए० रिचर्ड्स ने 'भावात्मक संप्रेषण' का नाम देते हुए अपना संप्रेषण सिद्धान्त (Theory of communication) प्रस्तुत किया है। हमारे विचार से दोनों ने मूलतः काव्य के माध्यम से भावों के

संप्रेषण को स्वीकार किया है, अतः उन्हें एक ही वर्ग—भाव-संप्रेषणवाद—में स्थान दिया जा सकता है।

### (ड) रूपवादी दृष्टिकोण

विभिन्न विद्वानों ने वस्तुओं के विभिन्न रूपगत तत्त्वों को सौन्दर्य का आधार मानकर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। प्राचीन विद्वान् अरस्तू ने सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए उसे तीन तत्त्वों पर आधारित माना है—(१) सम्मत्ता (Symmetry) (२) व्यवस्थित क्रम (Orderly arrangement) (३) निश्चित आकार (Certain magnitude)। होगार्थ ने अपने ग्रन्थ 'एनेलिसिस आफ् व्यूटी' में सौन्दर्य के छह उपादान स्थिर किये हैं—(१) वस्तु की उपयुक्तता (Fitness) (२) विभिन्नता (Variety) (३) सम्मत्ता (Symmetry) (४) स्पष्टता (Distinctiveness) (५) जटिलता (Intricacy) (६) विशालता (Magnitude)। बर्क महोदय ने अपने एक लेख में आकार-सूक्ष्मता, मसृणता, कोमलता, वर्ण-दीप्ति, शुद्धता आदि में सौन्दर्य का अस्तित्व बताया तो दूसरी ओर क्रूसाज के विचार से सौन्दर्य का निवास वैचित्र्य, एकत्व, समता, व्यवस्था, अनुपात आदि गुणों में हैं। बर्कले ने सम्मत्ता (Symmetry) और संतुलन (Proportion) में सौन्दर्य का अस्तित्व माना।

आधुनिक युग में ही पार्कर ने कलागत रूप की व्याख्या करते हुए सामंजस्य, क्रम, अनुपात, आवयविक संगठन आदि तत्त्वों पर विशेष बल दिया है। इस प्रकार रूपवादियों ने विभिन्न रूपगत विशेषताओं में ही सौन्दर्य का अस्तित्व सिद्ध किया है।

### (च) साहचर्यवादी दृष्टिकोण

कतिपय विद्वानों ने सौन्दर्य का सम्बन्ध व्यक्ति की आदत, या संस्कार आदि में सिद्ध किया। पिअर ब्रफियर के अनुसार प्रत्येक जाति के प्राणियों की सुन्दरता का एक-एक आदर्श होता है। जो बात सब जातियों की रूप-आकृति में सामान्य रूप से पाई जाती है वही उस जाति के सौन्दर्य का आदर्श हो जाता है। सर जे० रेनाल्डस ने भी ब्रफियर के सिद्धान्तों से ही मिलता-जुलता आदत का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनके विचारानुसार हमें जिन वस्तुओं को जिन रूपों में देखने की आदत पड़ गई, वही उस वस्तु का सौन्दर्य माना जाने लगा। हम मनुष्य के चेहरे पर तीखी नाक और पतले ओठों को सदा से देखते आये हैं अतः वे हमारे लिए सुन्दरता के आदर्श बन गये हैं; यदि मनुष्य जाति के चेहरे पर सदा से ही नाक न होती या उसका चेहरा गोल होने के स्थान पर चौकोर होता तो आज हम उसी में सौन्दर्य मानते। एलिसन ने साहचर्य-नियम के आधार पर सौन्दर्य की व्याख्या की। उनके विचार से हमारे मन पर आनन्द प्रदायी वस्तुओं के संस्कार संचित रहते हैं। किसी वस्तु के देखने पर उससे संस्कारों के रूप में संचित आनन्द जाग्रत

हो जाता है। उदाहरण के लिए जब हम किसी प्राचीन दुर्ग को देखते हैं तो उस दुर्ग से सम्बन्ध रखने वाले कई प्राचीन युद्धों की स्मृति आ जाती है जिसके फल-स्वरूप हमें सौन्दर्य का बोध होता है। अस्तु इस वर्ग के विद्वानों के विचार से सौन्दर्य का अस्तित्व हमारे साहचर्यजन्य संस्कारों में है।

### (छ) मूल्यवादी दृष्टिकोण

आई० स० रिचर्ड्स, हंटरमीड, जैरिट आदि विद्वानों ने सौन्दर्य की मूल्यपरक व्याख्या की है। इनके अनुसार किसी वस्तु का सौन्दर्य एक ऐसा मूल्य है (या मूल्य सम्बन्धी धारणा है) जो कि देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। किसी भी वस्तु के प्रति मूल्य सम्बन्धी दृष्टिकोण देश-काल के वातावरण, उसकी परिस्थितियों, संस्कार, शिक्षा आदि से प्रभावित होता है। रिचर्ड्स के अनुसार मूल्य का सम्बन्ध हमारी मूलभूत प्रवृत्तियों से होता है किन्तु ये प्रवृत्तियाँ भी देश-काल के अनुसार विकसित एवं परिवर्तित होती रहती हैं। सभी प्रकार की प्रवृत्तियों को मुख्यतः दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं—(१) रागात्मक एवं (२) विरागात्मक। इन प्रवृत्तियों को स्वरूप की दृष्टि से इच्छा की पर्यायवाची माना जा सकता है। मानव-मन सभी प्रवृत्तियों को तुष्ट करना चाहता है, फलतः कुछ प्रवृत्तियों में परस्पर विरोध एवं संघर्ष भी होता है। हमारी एक प्रवृत्ति के कारण दूसरी प्रवृत्ति में व्याघात होता है किन्तु हमारा प्रयास यह रहता है कि हम अपनी प्रवृत्तियों को इस प्रकार संतुलित करें कि जिससे हमारी अधिकाधिक प्रवृत्तियाँ तुष्ट हो सकें। सामान्यतः अधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति की तुष्टि के लिए हम अपनी गौण प्रवृत्तियों की उपेक्षा भी कर देते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह वस्तु मूल्यवान है जोकि हमारी एक प्रवृत्ति को—बिना किसी अन्य समान या अधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति को निराश किए संतुष्ट करती है, या यों कहिए कि जो एक प्रवृत्ति को तो तुष्ट करती है किन्तु साथ ही उससे अधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों को असंतुष्ट नहीं करती। यहाँ एक प्रश्न है कि हमारी कौन सी प्रवृत्ति अधिक महत्वपूर्ण होती है। और कौन सी गौण ? इसके उत्तर में रिचर्ड्स का विचार है कि जिस प्रवृत्ति की तुष्टि अन्य प्रवृत्तियों में अधिकाधिक संतुलन प्रस्तुत करती है तथा जिसकी तुष्टि से व्यक्ति की अधिकाधिक प्रवृत्तियाँ तुष्ट होती हैं—वही महत्वपूर्ण है। इस प्रकार मूल्य का आधार मानसिक प्रवृत्तियों की तुष्टि है।

जैरिट महोदय ने इन मूल्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—(१) साधनात्मक मूल्य (Instrumental Value) (२) आंतरिक मूल्य (Intrinsic Value) (३) परम्परागत मूल्य (Inherent Value)। साधनात्मक मूल्य उन वस्तुओं से सम्बन्धित है जो कि स्वयं प्रसन्नतादायक न होते हुए भी किसी लक्ष्य-विशेष की पूर्ति में साधन बनाती है। उदाहरण के लिए चाकू का मूल्य साधनपरक मूल्य है। किसी वस्तु को चाकू से काटने में हमें कोई प्रसन्नता नहीं मिलती, किन्तु

वह किसी अन्य लक्ष्य में सहायक होता है अतः उसका मूल्य साधनपरक है। किन्तु जो वस्तु स्वयं प्रसन्नता प्रदान करती है, उसे आंतरिक मूल्य का उदाहरण बताया जा सकता है; जैसे कि एक स्वादिष्ट आम। परम्परागत मूल्य से सम्बन्धित वस्तुएँ भी उपयोगिता के अनन्तर प्रसन्नता प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए चाय या काफी को ले सकते हैं। जो व्यक्ति चाय या काफी के आदी हैं उन्हें इनके पीने से एक विशेष तृप्ति का अनुभव होता है जबकि अन्य लोगों को कदाचित् नहीं होता—या बहुत कम होता है। इस प्रकार वस्तु एवं उससे प्राप्त प्रसन्नता के आधार पर मूल्य के उपर्युक्त तीन प्रकार निश्चित किये गये हैं जिनमें सौन्दर्य का सम्बन्ध तीसरे प्रकार के—या परम्परागत मूल्य से है। किन्तु परम्परागत मूल्यों में से भी सभी सौन्दर्य के पर्याय नहीं हैं। जहाँ उपभोक्ता निःस्वार्थभाव से ही परम्परागत मूल्यों का आस्वादन कर पाता है, उन्हें ही सौन्दर्य की श्रेणी में रखा जा सकता है।

कुछ अन्य विचारकों ने उपर्युक्त वर्गीकरण के स्थान पर मूल्यों के केवल दो भेद ही स्वीकार किये हैं—(१) नैतिक मूल्य एवं (२) सौन्दर्यात्मक मूल्य। इस सौन्दर्यात्मक मूल्य के भी तीन उपभेद किये हैं—(१) वस्तुपरक या ऐन्द्रिक (२) रूपात्मक और (३) साहचर्य जन्य। वस्तुओं के जिस गुण से हमारी इन्द्रियों को आस्वादन प्राप्त होता है—वस्तुपरक या ऐन्द्रिक मूल्य माना गया है। कलाओं में रंग, ध्वनि, चमक-दमक आदि से सम्बन्धित गुणों को इसी वर्ग में रखा गया है। रूपात्मक वर्ग में वस्तु की आकृति एवं शैली सम्बन्धी विशेषताएँ आती हैं। किन्तु जब हम किसी वस्तु को उसके अपने गुणों के स्थान पर किसी अन्य सम्बन्ध के कारण स्वीकार करते हैं तो वहाँ साहचर्य-जन्य मूल्य माना जावेगा। उदाहरण के लिए किसी प्राचीन ऐतिहासिक खंडहर का महत्त्व उसकी अपनी भव्यता के कारण न होकर उससे सम्बन्धित घटनाओं या व्यक्तियों के कारण होता है तो वहाँ उसका मूल्य साहचर्य-जन्य होता है। इस प्रकार कला का सौन्दर्य कहीं वस्तुपरक मूल्य पर, कहीं रूपात्मक मूल्य पर एवं कहीं साहचर्य जन्य मूल्य पर आधारित होता है और कहीं ये सब सम्मिलित रूप में होते हैं। किन्तु इनमें भी रूपात्मक मूल्यों को ही कलागत सौन्दर्य के लिए सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न वर्ग के विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से सौन्दर्य की व्याख्या प्रस्तुत की है। हमारे विचार से इन सभी में आंशिक सत्य विद्यमान है, उसे यदि ढूँढ कर परस्पर समन्वित कर लिया जाय तो एक व्यापक सत्य की—अधिक पूर्ण सत्य की—उपलब्धि हो सकती है। वैज्ञानिक पद्धति से इन विभिन्न मतमतान्तरों का विश्लेषण करते हुए सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं को भी वैज्ञानिक रूप दिया जा सकता है तथा उसी स्थिति में 'सौन्दर्य-शास्त्र' 'सौन्दर्य-विज्ञान' की संज्ञा प्राप्त कर सकता है।

## सहायक पुस्तक-सूची

(विषय-क्रमानुसार)

(क) भारतीय साहित्य-शास्त्र

१. अभिनव-भारती : सं० डा० नगेन्द्र, १९६० ।
२. आचार्य क्षेमेन्द्र : डा० मनोहरलाल गौड़, प्रथम संस्करण ।
३. कला, साहित्य और समीक्षा : डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र, १९६३ ।
४. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, प्र० सं० ।
५. काव्य-प्रकाश : मम्मट, अनु० हरिमंगल मिश्र, द्वि० संस्करण ।
६. काव्य-निर्णय : भिखारीदास, सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, १९५६ ।
७. काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति : वामन, सं० डा० नगेन्द्र, १९५४ ।
८. काव्यादर्श : दंडी, रणवीरसिंह, प्र० सं० ।
९. कुवलयानन्द : डा० भोलाशंकर व्यास, १९१६ ।
१०. चन्द्रालोक : जयदेव, सं० नन्दकिशोर शर्मा, १९५० ।
११. ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त : डा० भोलाशंकर व्यास, प्र० सं० ।
१२. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्द्धन : सं० डा० नगेन्द्र, १९५५ ।
१३. नाट्य-शास्त्र : भरतमुनि सं० बलदेव उपाध्याय प्र० सं० ।
१४. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र : प्र० सं० ।
१५. भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका : डा० नगेन्द्र, प्र० सं० ।
१६. भारतीय साहित्य-शास्त्र : बलदेव उपाध्याय, प्र० सं० ।
१७. भारतीय साहित्य-दर्शन : श्री राममूर्ति त्रिपाठी, प्र० सं० ।
१८. रस-गंगाधर : पं० जगन्नाथ, अनु० मदनमोहन झा, १९५५ ।
१९. रस-मीमांसा : रामचन्द्र शुक्ल : सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ।
२०. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण : डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित प्र० सं० ।
२१. रसिक प्रिया : केशव, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ।
२२. रीतिकाल के प्रमुख आचार्य : डा० सत्यदेव चौधरी, प्र० सं० ।
२३. रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र, प्र० सं० ।

२४. वक्रोन्ति जीवितम् कुन्तक, सं० डा० नगेन्द्र, १९५५ ।  
 २५. साहित्य-दर्पण : विश्वनाथ, सं० शालिग्राम शास्त्री, ११६३ ।  
 २६. समीक्षा-दर्शन : डा० रामलाल सिंह, प्र० सं० ।  
 २७. साहित्यालोचन : डा० श्यामसुन्दर दास, षष्ठ संस्करण ।  
 २८. सिद्धान्त और अध्ययन : डा० गुलाबराय, प्र० सं० ।  
 २९. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र, द्वि० सं० ।

### (ख) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र

1. A Grammar of Metaphor : C. B. Rose, 1958
2. A hand-book of Literary Criticism : W. H. Sheran. I
3. An Introduction to the study of Literature : W. H. Hudson, '57
4. A history of Criticism & Literary taste in Europe : G. Sainsbury, Three volumes ; 6-7th edition.
5. Biographia Literaria : S. T. Coleridge, edited by J. Shawcross, 1939
6. Creative Imagination : J. E. Downey, 1929
7. Elizabethan & Metaphysical Imagery : Rose mond Tuve, 1957
8. Elements of Poetry : J. R. Kreuzer, 1955
9. English Prose Style : Herbert Read, 1956
10. Illusion and Reality : Christopher Caudwell, 1947
11. Language & Reality : W. M. Urban, 1957
12. Language & Reality : M. Hope Parker, 1949
13. Literature & Science : Oxford, 1954
14. Literary Criticism : A short history : W. K. Wimsatt & C. Brooks, 1957
15. Meaning & Truth in the Arts : John Hospers; 1946
16. Poetic Process : George Whalley, 1953
17. Practical Criticism : I. A. Richards, I edition
18. Romantic Image : Frank Kermode, 1957
19. Science & Literary Criticism : Herbert Dingle, 1949
20. Style : F. L. Lucas, 1955
21. The Anatomy of Poetry : M. Boulton, 1953
23. The Appreciation of Poetry : E. G. Moll, 1933
23. The Art of Drama : Ronald Peacock, 1957
24. The Meaning of Meaning : C. K. Ogden, I. A. Richards, 1959

25. The Nature of Literature : Thomas Clark Pollock, 1942
26. The Poetic Pattern : Robin Skelton, 1956
27. The Poetic Image : C. D. Lewis, 1958
28. The Problem of Style : J. M. Murry, 1959
29. Theory of Literature : Renewellek, Austin warren, 1 edition.
३०. अरस्तू का काव्य-शास्त्र : डा० नगेन्द्र ।
३१. आलोचना के सिद्धान्त : शिवदान सिंह चौहान, प्र० सं० ।
३२. काव्य में उदात्त-तत्त्व : लॉजाइनस, डा० नगेन्द्र ।
३३. काव्य-कला : होरेस, डा० नगेन्द्र, प्र० सं० ।
३४. पाश्चात्य-समीक्षा : डा० केसरी नारायण शुक्ल, प्र० सं० ।
३५. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र एवं सावित्री सिन्हा, प्र० सं० ।

### (ग) सौन्दर्य-शास्त्र

1. Aesthetics : Benedetto Croce, 1956
2. Aesthetic & Criticism : Harold Osborne, 1955
3. A history of Esthetics : K. E. Gilbert & Helment Kuhn, 1954
4. A history of Aesthetic : Bosanquet, 11 edition.
5. An Introduction to Aesthetic : E. F. Carrit, 1955
6. An Introduction to Aesthetics : Hunter Mead, 1952
7. Art as Experience : John Dewey, 1934
8. Art and Scientific Thought : Mortin Johnson, I, edition
9. Critique of Judgement : Immanuel Kant, Translated, J. H. Bernard, 1951
10. Encyclopedia of Arts : D. D. Runes, 1946
11. Further studies in a dying culture : C. Caudevell, 1949
12. Studies in Sanskrit Aesthetics : A. C. Shastri, 1952
13. The Arts and the Art of Criticism : T. M. Greene, 1947
14. The Analysis of Beauty : William Hogarth, edited Joseph Burke, 1955
15. The Meaning of Art : Herbert Read, 1951
16. The principles of Art : R. G. Collingwood, 1945
17. The Quest for Beauty : J. L. Jarrett, 1957
18. The Sense of Beauty : George Santayana, 1936
19. The Theory of Beauty : E. F. Carritt, 1949
20. Western Aesthetics : K. C. Pande, 1956

21. What is Art : L. Tolstoy, 1905
२२. सौन्दर्य-शास्त्र : डा० हरद्वारी लाल शर्मा, १९५३।

### (घ) मनोविज्ञान

1. An Introduction to Social Psychology : W. McDougall, 1950
2. An Introduction to Personality Study : R. B. Cattell, 1950
3. An Outline of Psychology : W. McDougall, 1949
4. Development of Personality : Uday Shankar, 1955
5. Dimensions of Character : E. M. Ligon, 1957
6. Emotions in Man & Animal : P. T. Young, 1947
7. Genealogy of Love : Curt Thesing, Translated, Eden and Cedar Paul, 1933
8. General Psychology : H. E. Garrett, 1955
9. Historical Introduction to Modern Psychology : Gardner Murphy : 1948
10. Indian Psychology : Jadunath Sinha, 1934
11. Modern Education-Psychology : B. N. Jha, 1946
12. Nature of Thought : Brand Blanshard, 1939
13. Nerve Impulse : H. H. Merriment, 1952
14. Psychology : R. S. Woodworth, 1937
15. Psychology : H. W. Karan, I edition.
16. Social psychology : Solom E. Asch, 1955
17. The analysis of Mind : B. Russel, 1931
18. The Energies of Man : W. McDougall, 1950
19. The Laws of Feeling : F. Paulhan, Translated, C. K. Ogden, 1930
20. The New Psychology : A. G. Tansley, 1929
21. The Neuro physiological basis of mind : J. C. Eccles, 1952
22. The Psychology of Jung : J. Jacobi, Translated. K. W. Bash, 1946
23. The Principles of psychology : William James, 1950
24. The Psychology & Imagination : J. P. Sartre, 1948 (Translated)
25. The Structure and Dynamics of the Psyche : C. G. Jung, Trans. R. E. Hull, 1960
26. The Science of Emotions : Dr. Bhagwan Dass, 1953
२७. मनोविज्ञान : जदुनाथ सिन्हा, १९५८।

२८. सरल मनोविज्ञान, लालजी शुक्ल, १९५६ ।  
 २९. मनोविश्लेषण और मानसिक प्रक्रियाएँ : डा० पद्मा अग्रवाल, द्वितीय संस्करण ।

(ड) भौतिक विज्ञान एवं अन्य विज्ञान

1. Cosmology : Volume I, II, D. Nys, English Trans. I edition.
2. Cell Physiology : Arthur C. Giese, 1959
3. Evolutions and Creation : Sir Oliver Lodge, 1926
4. Evolution after Darwin : Sol Tax, 1960
5. Foundations of Embryology : Bradley M. Pattern, 1958
6. Inorganic Chemistry : W. Norton Jones : I edition.
7. Introduction to Neutron Physics : L. F. Curtess, 1959
8. Man and his physical world : D. E. Grey & J. W. Coutts, 1958
9. Origin through evolution : Nathen Fasten, 1930
10. On Nuclear Energy : Donald J. Hughs, 1957
11. Principles of Embryology : C. H. Waddington, 1957
12. The A. B. C. of Relativity : Bertrand Russel, 1958
13. The Mighty Atom : John Lewellen, 1955
14. Understanding Chemistry : Lawrence P. Lessing, 1959
१५. अकार्बनिक रसायन-शास्त्री, जी० डी० तुली १९६५ ।
१६. आपेक्षिकता का अभिप्राय : डा० एलबर्ट आइन्स्टाइन, अनु० निहालकरण सेठी, १९६० ।
१७. भौतिक विज्ञान में क्रान्ति : लू दे ब्रोगली, अनु० निहालकरण सेठी, १९५८ ।
१८. माध्यमिक भौतिक विज्ञान, भाग—१, नगेन्द्रनाथ वसु, १९५५ ।
१९. विज्ञान हस्तमलकवत् : रामदास गौड़, १९३६ ।
२०. सरल शरीर-विज्ञान : जानकीशरण वर्मा, १९४८ ।
२१. शक्ति : वर्तमान और भविष्य : शेखुड डेलर, अनु० सत्यप्रकाश गोयल, १९५६ ।
२२. हिन्दी विश्व-भारती ।

(च) दर्शन एवं तर्क-शास्त्र

१. ईशादि नौ उपनिषद : गी० प्रे० २०१६ ।
२. तत्त्व-ज्ञान : डा० दीवानचन्द, १९५६ ।
३. तर्क शास्त्र : डा० गुलाबराय, १९६८ वि० ।
४. नाथ-सम्प्रदाय : आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्र० सं० ।
५. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास : डा० गुलाबराय, १९८३ वि० ।

६. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय, षष्ठ सं० ।
७. भारतीय दर्शन-परिचय : हरिमोहन झा, प्र० सं० ।
8. A history of Modern Philosophy : W. K. Wright, 1941
9. Ideas of Great Philosophers : S. E. Frost, 1942
10. Semantics : H. R. Walpole, 1941
11. The Idea of Nature : R. G. Collingwood, 1945
12. The Greek Philosophers : W. K. C. Guthrie, 1950
13. The Pre-socratic Philosophy : G. S. Kirk, 1957
14. The Logic of Scientific Discovery : K. R. Popper, 1959

### (छ) विविध

१. अतीत के चल-चित्र : महादेवी वर्मा, प्र० सं० ।
२. अशोक के फूल : आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्वि० सं०
३. आधुनिक काव्य : महादेवी वर्मा, प्र० सं० ।
४. कर्मभूमि : प्रेमचन्द ।
५. चिन्तामणि : आ० रामचन्द्र शुक्ल, तृ० सं० ।
६. छायावाद युग : डा० शम्भूनाथ सिंह, प्र० सं० ।
७. प्रामाणिक शब्द-कोष, रामचन्द्र वर्मा ।
८. बिहारी-रत्नाकर . रत्नाकर ।
९. संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ : द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी ।
१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, तृ० सं० ।
11. Dictionary of Literary terms : Shipley
12. Encyclopaedia of Arts.
13. Encyclopaedia of Britannica
14. Encyclopaedia of Ethics and Religion.
15. Oxford English Dictionary.
16. Oxford Junior Encyclopaedia,
17. The New Dictionary of thought : T. Edwards.

















